॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥



वर्ष ५८] * * * [संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, दिसम्बर १९८४

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—गरुड़-वाहन नारायणकी छवि ...	९०१
२—कल्याण (शिव) ...	९०२
३—भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	९०३
४—नाम और नामीका अभेद (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ...	९०६
५—भक्ति-संजीवनी भागवती कथा (५) (संत श्रीरामचन्द्रजी डोंगरे महाराजके प्रवचनका सारांश) ...	९०७
६—भारतका पुराणसाहित्य (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	९११
७—नश्वर प्राणी [कविता] (रचयिता—श्रीशिवदत्तजी झा) ...	९१४
८—साधकोंके प्रति—(सन्तचरण-रजका तात्पर्य) (श्रद्धेय श्रीस्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ...	९१५
९—प्रसादे सर्वदुःखानाम् (डॉ० श्रीभगवतीशरणजी मिश्र) ...	९१८
१०—तपोव्रत एवं हरिनामकी पापनाशकता (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती) ...	९२१
११—विश्वास और अनुभव (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक प्रवचन) ...	९२३
१२—सन्त-वचनावली (साकेतवासी सन्त स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज)	९२६
१३—बच्चोंकी सरल दयालुता ...	९२८
१४—श्रीरामरक्षास्तोत्रका महत्त्व ...	९२९
१५—गीताका कर्मयोग—६९ [श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या] (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ...	९३०
१६—आदर्श डॉक्टर भक्त दुर्गादास ...	९३४
१७—अमृत-बिन्दु ...	९३७
१८—'ईश्वर सब ठीक कर देंगे' (ईश्वर-विश्वासपर एक अमेरिकन महिलाका अनुभव) ...	९३८
१९—पढ़ो, समझो और करो ...	९४०
२०—मनन करनेयोग्य ...	९४२
२१—मनका विष और उसका उपचार ...	९४३
२२—मनको उद्‌बोधन (पद) ...	९४५

चित्र-सूची

१—मयूरवाहन कार्तिकेय	(रेखा-चित्र)	आवरणपृष्ठ
२—गरुड़वाहन श्रीनारायण	(रंगीन चित्र)	मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें १० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ५२.०० रु०
(३ पौण्ड ५० पेंस)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]



गरुडवाहन श्रीनारायण



कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, दिसम्बर १९८४ ई० { संख्या १२ पूर्ण संख्या ६९७

गरुड़-वाहन नारायणकी छवि

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः ।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लसच्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । १० । ५४)

[देवासुर-संग्राममें समय देवोंके ध्यान करनेपर विश्वभावन भगवान्‌का प्राकट्य]

बड़ी ही सुन्दर भगवान्‌की झाँकी थी । गरुड़के कंधेपर उनके चरणकमल विराजमान थे । नवीन कमलके समान बड़े ही कोमल नेत्र थे । पीताम्बर धारण किये हुए थे । आठ भुजाओंमें आठ आयुध, गलेमें कौस्तुभमणि, मस्तकपर अमूल्य मुकुट विराजित थे तथा कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे । देवगण अपने नेत्रोंसे भगवान्‌की इस दिव्य छविका दर्शन कर कृतकृत्य हो गये ।

कल्याण

याद रखो—हमारे सोचने या करनेसे दूसरे किसीका अमङ्गल नहीं हो सकता । अमङ्गलरूपी फल मिलता है अपने पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप । इस स्थितिमें हम जब किसीका अमङ्गल सोचते-करते हैं तो हम अपना ही अमङ्गल करते हैं । हमारा चित्त जब किसी भी दूसरेके प्रति द्वेष रखता है और उसका अमङ्गल सोचता है तो उसका प्रभाव हमारे ही जीवनपर पड़ता है । हम जैसा सोचते हैं, वैसा ही अपनेको बनाते जाते हैं ।

याद रखो—भगवान्के राज्यमें अनेक प्रकारके मङ्गल हैं और भगवान्ने हमको मङ्गलमय विचार रखनेकी विचित्र शक्ति भी दी है । हम यदि उस शक्तिका सदुपयोग करें तो उससे हमारा तो सुख-आनन्द बढ़ेगा ही, हम दूसरे लोगोंमें भी सुख-आनन्दकी वृद्धिमें हेतु बनेंगे ।

याद रखो—जब हम दूसरोंका भला सोचते-करते हैं, तब अपना ही भला करते हैं । भला सोचते-सोचते भला करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है, फिर भला करना ही स्वभाव बन जाता है और जब हम दूसरोंका भला करते हैं तो उनपर बहुत ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है, वे भी बदलेमें हमारा भला सोचने-करने लगते हैं । इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेका भला सोचने-करनेसे सहज ही सबका भला होता है । हम भलेके प्रसार-विस्तारके पुण्यकार्यका सौभाग्य प्राप्त करते हैं ।

याद रखो—भगवान्की दी हुई भला करनेकी शक्ति और समयका जो समयपर पूर्णरूपसे उपयोग करते हैं, उनकी शक्ति और भी बढ़ती है, परंतु जो समयपर शक्तिका सदुपयोग नहीं करते, उनको पछताना ही पड़ता है । शक्ति क्षीण होते-होते नष्ट हो जाती है । अतएव प्राप्त अवसरको खोओ मत, भले कामको कलपर मत रक्खो उसे अभी कर लो और करो यथासाध्य पूरे मनसे यथायोग्य पूरी शक्ति लगाकर । तुम्हें भगवान्की कृपा प्राप्त होगी । तुम्हारी शक्ति बढ़ेगी और तुम जगत्का कल्याण करनेवाले भगवान्के हाथके एक महान् यन्त्र बनकर अपनेको धन्य कर सकोगे ।

याद रखो—हम दूसरोंसे सदा यही चाहते और आशा रखते हैं कि सब लोग हमारा भला करें, हमें सुख पहुँचावें, हमारा हित करें । हमारा बुरा कोई न करे, हमें दुःख कोई भी न पहुँचावे, हमारा अहित कोई भी न करे । बस, तुम जो चाहते हो, वही दूसरोंके साथ करना आरम्भ कर दो । तुम्हारी की हुई भलाई अनन्तगुनी होकर तुम्हारे पास वैसे ही लौट आयेगी, जैसे खेतमें थोड़ेसे बीज बोनेवालेको अनन्तगुना होकर अनाज प्राप्त होता है ।

याद रखो—जो अपना सुख, मङ्गल, हित चाहता है, पर दूसरोंका नहीं चाहता वरं दूसरोंको दुःख पहुँचाता, उनका अमङ्गल एवं अहित चाहता है, उसको कभी भी सुख, मङ्गल, हित प्राप्त नहीं हो सकता । वह एक बार मोहवश भले ही अपनेको ही सुखी मान ले, पर वह सुखी कभी हो नहीं सकता । दूसरोंका अमङ्गल चाहना; अपना ही अमङ्गल करना है । यह ध्रुव निश्चय है, परम सत्य सिद्धान्त है ।

याद रखो—तुम बुरी बात सोचनेके लिये आये ही नहीं हो । भगवान्ने तुमको मनुष्य-शरीर दिया है सबका सदा मङ्गल सोचते-करते ही अपना मङ्गल करनेके लिये और अन्तमें परम मङ्गलमय भगवान्की मङ्गलमयी कृपा प्राप्त करनेके लिये । यही मानवके नाते तुम्हारे जीवनका लक्ष्य है और इस महान् लक्ष्यकी ओर सावधानीके साथ चलते और आगे बढ़ते रहना ही तुम्हारा एकमात्र परम कर्तव्य है । इस महान् लक्ष्यको ध्यानमें रखो और अपने कर्तव्यका पालन करते रहो । —'शिव'

भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

समस्त प्राणी, पदार्थ, क्रिया और भावका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़कर साधन करनेसे साधकके हृदयमें उत्साह, समता, प्रसन्नता, शान्ति और भगवान्‌की स्मृति हर समय रह सकती है। इससे भगवान्‌में परम श्रद्धा-प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। जो कुछ भी है—सब भगवान्‌का है और मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान् सबमें व्यापक हैं (गीता १८। ४६), इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ, भगवान् ही मेरे परम प्यारे और परम हितैषी हैं—इस प्रकारके भावसे अपने घर या दूकानके कामको अथवा किसी भी धार्मिक संस्थाके कामको अपने प्यारे भगवान्‌का ही काम समझकर और स्वयं भगवान्‌का ही होकर काम करनेसे साधकको कभी उकताहट नहीं आती, प्रत्युत चित्तमें उत्साह, प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि नहीं बढ़ती है तो गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इसमें क्या कारण है। खोज करनेपर पता लगेगा कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें कारण है। इस कमीकी निवृत्तिके लिये साधकको भगवान्‌के शरण होकर उनसे करुणापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझना चाहिये।

गीताप्रचारका काम तो प्रत्यक्ष भगवान्‌का ही काम है, इसमें कोई शङ्काकी बात ही नहीं है। जो मनुष्य श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थ और भावको समझकर गीताका प्रचार करता है, तो उससे उसका उद्धार हो जाता है और भगवान् उससे बहुत ही प्रसन्न होते हैं। इसके लिये गीता अ० १८ श्लोक ६८-६९ को देखना चाहिये—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो जैसे मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जो मनुष्य इन दोनों श्लोकोंके अर्थ और भावको भलीभाँति समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीताप्रचारमें ही व्यतीत होता है। वर्तमानमें जो कुछ भी गीताका प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंके अर्थ और भावका ज्ञान ही है।

अतः गीताप्रचारका कार्य भगवान्‌का ही कार्य है और यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही प्राप्त होता है। रुपये खर्च करनेसे यह नहीं मिलता।

भगवान्‌का काम करना—उनकी आज्ञाका पालन करना भगवान्‌की ही सेवा है। वास्तवमें इस कामको भगवान्‌की सेवा समझकर करनेसे अवश्य ही प्रसन्नता तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि नहीं मिलती है तो उसने भगवान्‌के कामको भगवान्‌की सेवा समझा ही नहीं। यदि कोई मनुष्य महात्माको महात्मा जानकर उनके कार्यको, उनकी आज्ञाके पालनको उनकी सेवा समझकर करता है तो उसके हृदयमें भी इतना आनन्द होता है कि वह उसमें समाता ही नहीं, तो फिर भगवान्‌की सेवासे परम प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त हों, इसमें तो कहना ही क्या है।

गीता-प्रचारका कार्य करनेवालोंके चित्तमें यदि भगवान्‌की स्मृति, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम और शान्ति नहीं रहती है तो उन्हें इसके कारणकी खोज करनी चाहिये एवं जो दोष समझमें आये उसको भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर हटाना चाहिये। भगवान्‌की दया सबपर अपार है, उसको पूर्णतया न समझनेके कारण ही हमलोग प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। हमलोगोंपर भगवान्‌की जो अपार पूर्ण दया है, उसके शतांशको भी हम नहीं समझते हैं। किंतु न समझमें आनेपर भी हमलोगोंको अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया मानते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे वह आगे जाकर समझमें आ सकती है।

दयाके इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है— एक क्षत्रिय-बालक राज्यकी सहायता और व्यवस्थासे एक महाविद्यालयमें अध्ययन करता था। उसके माता-पिता उसे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि 'इस देशके राजा उच्चकोटिके ज्ञानी, योगी महापुरुष हैं, वे हेतुरहित प्रेमी और दयालु हैं, उनकी हमलोगोंपर बड़ी भारी दया है। हमलोगोंका देहान्त हो जाय तो तुम चिन्ता न करना; क्योंकि महाराज साहबकी दया तुमपर हमलोगोंकी अपेक्षा अतिशय अधिक है।' माता-पिताके इस उपदेशके अनुसार वह ऐसा ही मानता था। समय आनेपर उसके माता-पिता चल बसे, परंतु वह बालक दुःखित नहीं हुआ। विद्यालयके सहपाठी बालकोंने उससे पूछा— 'तुम्हारे माता-पिता मर गये, फिर भी तुम्हारे चेहरेपर खेद नहीं, क्या बात है? अब तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा?' क्षत्रिय-बालकने कहा—'मुझे शोक क्यों होता? क्योंकि मेरे माता-पितासे भी बढ़कर मुझपर दया और प्रेम करनेवाले हमारे परम हितैषी महाराज साहब हैं। महाराज साहब उच्चकोटिके ज्ञानी महापुरुष हैं। मैं तो उन्हींपर निर्भर हूँ।' बालककी यह बात सुनकर वहाँके प्रधानाध्यापकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इस बालकके हृदयमें महाराज साहबके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। वे प्रधानाध्यापक राज्यकी कौंसिलके सदस्य थे। एक दिन जब कौंसिलकी बैठक हुई, तब वे भी उसमें उपस्थित थे। उस दिन महाराज साहबने कहा—'अपने देशमें कोई अनाथ बालक हो तो बतलायें, उसका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे सुचारुरूपसे हो जाना उचित है। कौंसिलके कई सदस्योंने उसी क्षत्रिय-बालकका नाम बतलाया। इसपर राजाने सबकी सम्मतिसे उस बालकके लिये खाने-पीनेका सब प्रबन्ध कर दिया और उसके कच्चे घरको पक्का बनानेका आदेश दे दिया। पढ़ायीका प्रबन्ध तो पहलेसे ही राज्यकी ओरसे था ही।

कुछ ही दिनों बाद जब राजाकी आज्ञासे राज-कर्मचारी उसके कच्चे घरको पक्का बनानेके लिये तोड़ रहे थे, तब उस क्षत्रिय-बालकके एक सहपाठीने दौड़कर उसे सूचना दी कि तुम्हारे घरको राजकर्मचारी तोड़कर बर्बाद कर रहे हैं। यह सुनकर वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—'अहा! महाराज साहबकी मुझपर बड़ी ही दया है। सम्भव है, वे पुराना तुड़वाकर नया घर बनवायेंगे! उसकी यह बात सुनकर प्रधानाध्यापक आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे—'देखो, इस बालकको कितना प्रबल विश्वास है। महाराजपर कितनी अटूट श्रद्धा है।'

पुनः जब दूसरी बार कौंसिलकी बैठकमें प्रधानाध्यापक सम्मिलित हुए, तब राजाने यह प्रस्ताव रक्खा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे संतान नहीं है। अतः युवराजपद किसको दूँ? इसके योग्य कौन है?' इसपर प्रधानाध्यापकने बतलाया—'वह क्षत्रिय-बालक गुण, आचार, विद्या और स्वभावमें सबसे बढ़कर है। वह राजभक्त है और आपपर तो उसकी अपार श्रद्धा

है ।' इस बालका दूसरे सदस्योंने भी प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया । राजाने सर्वसम्मतिसे उस क्षत्रिय-बालकको ही युवराजपद देनेका निर्णय कर दिया ।

दूसरे दिन राजाके मन्त्री और कुछ उच्चपदाधिकारी उस क्षत्रिय-बालकके घरपर गये । उन सबको आते देख उस क्षत्रियबालकने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया और कहा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' पदाधिकारियोंने कहा—'महाराज साहबकी आपपर बड़ी भारी दया है ।' बालक बोला—'यह मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि महाराजकी मुझपर अपार दया है । इसी कारण आपलोगोंकी भी मुझपर बड़ी दया है ।' पदाधिकारियोंने कहा—'हम तो आपके सेवक हैं, आपकी दया चाहते हैं ।' बालक बोला—'आप ऐसा कहकर मुझे लज्जित न कीजिये । मैं तो आपका सेवक हूँ । महाराज साहबकी मुझपर दया है—इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ ।' पदाधिकारियोंने कहा—'आप जो जानते हैं, उससे कहीं बहुत अधिक उनकी दया है ।' क्षत्रिय-बालकने पूछा'—क्या महाराज साहबने मेरे विवाहका प्रबन्ध कर दिया ?' तब उन्होंने कहा—'विवाहका प्रबन्ध ही नहीं, महाराज साहबकी तो आपपर अतिशय दया है ।' बालकने पुनः पूछा—'क्या महाराज साहबने मुझको दो-चार गाँवोंकी जागीरदारी दे दी है ?' पदाधिकारियोंने कहा—'यह तो कुछ नहीं, उनकी आपपर जो दया है, उसका आप अनुमान ही नहीं कर सकते ।' इसपर बालकने निवेदन किया—'उनकी मुझपर कैसी दया है, इसे आप ही कृपा करके बतलाइये ।' उन्होंने कहा—'आपको महाराज साहबने युवराजपद दे दिया है । इसलिये हम आपकी दया चाहते हैं ।' यह सुनकर क्षत्रिय-बालक हर्षमें इतना मुग्ध हो गया कि उसे अपने-आपका भी होश नहीं रहा ।

इस दृष्टान्तको अध्यात्मविषयमें यों घटाना चाहिये कि भगवान् ही ज्ञानी महापुरुष राजा हैं । श्रद्धालु जिज्ञासु ही क्षत्रिय-बालक है । उपदेश देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं । सत्सङ्गी साधकगण ही सहपाठी बालक हैं । भगवत्प्रेमी महापुरुष ही कौंसिलके सदस्य प्रधानाध्यापक हैं । राज्यकी ओरसे बालकके खान-पानका प्रबन्ध कराये जानेको लोकदृष्टिसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और घर तुड़वाये जानेको लोकदृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्ति समझना चाहिये तथा इन दोनोंमें बालकके द्वारा राजाका मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होनेको प्रत्येक घटनामें भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होना समझना चाहिये । बालकका राजाको सुहृद् मानकर उनपर निर्भरता, श्रद्धा और विश्वास करना ही भगवत्-शरणागतिका साधन समझना चाहिये ।

इस दृष्टान्तसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमलोग अपने ऊपर भगवान्‌की जितनी दया मानते हैं, भगवान्‌की दया उससे कहीं बहुत अधिक है । भगवान्‌की हमपर इतनी दया है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते । यदि हम उस दयाको जान जायँ तो क्षत्रिय-बालककी भाँति हमें इतना आनन्द और प्रसन्नता हो कि उसकी सीमा ही न रहे, फिर हमें अपने-आपका भी ज्ञान न रहे ।

अतः हमें स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान समझकर और अपनेद्वारा होनेवाली क्रियाओंको भगवान्‌का काम तथा भगवान्‌की परम सेवा समझकर हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए आनन्दमें मग्न रहना चाहिये ।

इस प्रकार भगवद्भक्तिके साधनसे साधकके चित्तमें प्रसन्नता, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है, हृदय

प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है तथा कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। किंतु मनुष्य जब साधन करते-करते सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है—भगवान्‌को पा लेता है, तब वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदिसे ऊपर उठकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे कड़ाहीमें घी डालकर उसमें कचौड़ी सेंकी जाती है, वह जबतक कच्ची रहती है तबतक तो उछलती है—उसमें विशेष क्रिया होती रहती है, किंतु जब वह पकने लगती है, तब उसका उछलना कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर तो वह शान्त और स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार साधन करते समय साधकमें जबतक कच्चाई रहती है, तबतक वह साधन-विषयक आमोद-प्रमोदमें उछलता रहता है एवं उसके रोमाञ्च, अश्रुपात और कण्ठावरोध होता रहता है, किंतु जब साधन पकने लगता है, तब हर्षादि विकारोंका उफान कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर आमोद-प्रमोद, हर्ष आदि विकारोंसे रहित हो परम शान्त हो जाता है। फिर वह परमात्मामें अचल और स्थिर होकर परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

नाम और नामीका अभेद

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

एक सज्जनने प्रश्न किया कि भक्तलोग कहते हैं—'कहेउ नामु बड़ ब्रह्म राम तें' अर्थात् ब्रह्म और राम दोनोंसे नाम बड़ा है। कैसे बड़ा है ? यह पूछनेपर विश्वास करना ही परमावश्यक बतलाया जाता है।

इस प्रश्नका समाधान तुलसीकृत-रामायणमें ही बड़ी सुन्दर रीतिसे किया गया है। जैसे किसीके गृहमें अरबों-खरबोंकी सम्पत्ति भी रक्खी हो, तो भी जबतक बोध न हो, तबतक उस सम्पत्तिसे कुछ भी लाभ नहीं होता, गृहपति घर-घर भिक्षा माँगता फिरता है; किंतु बीजकके द्वारा सम्पत्तिका पता लगते ही दरिद्रता दूर हो जाती है; वैसे ही यद्यपि परब्रह्म परमानन्द परमात्मा सब प्राणियोंके अन्तरात्मा ही हैं, तथापि वे सर्वत्र व्यक्त नहीं हैं। इसीलिये अज्ञानी प्राणी अनेक दुःखोंमें निमग्न रहते हैं। ज्ञान होते ही प्राणी परमानन्द-महासमुद्रस्वरूप ही हो जाता है। अचिन्त्यशक्ति शब्दके प्रभावसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे 'गो' नामके उच्चारण, श्रवणसे गोव्यक्तिकी स्फूर्ति होती है, वैसे ही परमात्मबोधक शब्दोंसे परमात्मस्वरूपकी स्फूर्ति होती है। इस तरह नाम या शब्द व्यञ्जक होता है, नामी परमात्मा व्यङ्ग्य होता है। व्यञ्जकके बिना व्यङ्ग्यकी अभिव्यक्ति न होनेसे यह अकिञ्चित्कर रहता है। नामीकी महत्ता ही नामके अधीन होती है, इसीलिये नामीसे भी नाम बड़ा समझा जाता है।

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

इसी तरह सगुण, साकार, सच्चिदानन्द रामसे भी नामको बड़ा बतलाया गया है। रामने एक पाप-तापभरी गौतमपत्नी अहल्याको तारा, तो नामने अपरिगणित खलोंकी कुमतियोंको सुधारकर सुमति बना दिया—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

रामने एक समुद्र बाँधनेके लिये भालुओं और बंदरोंकी सेना इकट्ठी की, परंतु नामका तो स्मरण करते ही भवसिन्धु ही सूख जाता है—

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

निर्गुण, निराकार, निर्विकार रामकी प्राप्ति एवं सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन रामकी प्राप्ति सर्वथा नामके ही सहारे होती है, इसलिये नाम नामीसे बड़ा है, यह कहना सङ्गत ही है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माके ही चिदंशका नाम-स्वरूपसे आविर्भाव होता है, सदानन्द अंश नामीके रूपमें व्यक्त होता है। यद्यपि ये तीनों अंश एक ही वस्तु हैं, सत्की स्वप्रकाशता ही चिद्रूपता है, चित्की अत्यन्ताबाध्यता ही सद्रूपता है, सच्चित्की सर्वोपद्रवरहितता ही आनन्द-रूपता है, तथापि उपाधिभेदसे इनकी अभिव्यक्तिमें भेद होता है। जैसे जलपर अग्निका दाहकत्व ही व्यक्त होता है, प्रकाशकत्व नहीं, परंतु काष्ठ आदिपर दाहकत्व-प्रकाशकत्व दोनों ही अभिव्यक्त होते हैं, वैसे ही तम एवं रजपर सत्त्व और चित्त्वकी ही व्यक्ति होती है, परंतु सात्त्विक उपाधिपर सत्, चित्, आनन्द तीनोंकी ही अभिव्यक्ति होती है। जैसे जीव और ईश्वरमें औपाधिक वैषम्य और भेद होनेपर भी वस्तुतः परम अभेद है, वैसे ही नाम और नामीमें भी वास्तविक अभेद ही है।

भक्ति-संजीवनी भागवती कथा (५)

(संत श्रीरामचन्द्रजी डोंगरेजी महाराजके प्रवचनका सारांश)

[गतांक ११ पृ०-सं० ८८२ से आगे]

विवाहमें दो व्यक्तियोंके दाम बाँधे जाते हैं। पति-पत्नीका स्नेह ही ग्रंथि है। इस ग्रन्थिका छूटना कठिन है। परमात्माकी सेवा करनेके लिये एकको दूसरेका साथ मिला है, ऐसा सोचें तो पति-पत्नी सुखी हो सकते हैं।

बाँसमें अर्थात् वासनाओंमें धुंधुकारी रहा था। बाँसकी सात गाँठ अर्थात् वासनाओंकी सात गाँठ। वासना ही पुनर्जन्मका कारण है। अतः वासनाको नष्ट करो। वासनापर विजय पाना ही सुख होनेका उपाय है, मार्ग है। मनुष्य मोहको नहीं छोड़ सकता। वासना अर्थात् आसक्ति सात प्रकारकी होती है (१) नारीकी आसक्ति (पति-पत्नीकी आसक्ति), (२) पुत्रकी आसक्ति (पिता-पुत्रकी आसक्ति), (३) व्यावसायिक आसक्ति, (४) द्रव्यकी आसक्ति, (५) कुटुम्बकी आसक्ति, (६) घर-बारकी आसक्ति और (७) गाँवकी आसक्ति। इन सभी आसक्तियोंका त्याग करो।

शास्त्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर और अविद्याको सात गाँठे कहा गया है। इनमें जीव बँधा हुआ है, जिसे मुक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करना है।

बाँस वासनाका रूप है। जीव वासनाओंमें फँसा हुआ है। वासनासे ही जीवमें जीवभाव आया है। निष्कामसे सकाम बना है। वासनाओंकी ग्रंथियाँ जबतक न छूटें, तबतक जीवभाव निर्मूल नहीं होता।

श्रीभागवतकी कथाके श्रवणसे वासनाकी हर एक ग्रन्थि टूटती है। भागवत-कथासे ग्रंथियाँ टूटती हैं। प्रभुसे प्रेम बढ़े तो आसक्तिकी ग्रंथियाँ टूटने लगेंगी। श्रीभगवान्‌के नामका जप करेंगे और वही एक सत्य है, ऐसा मानकर उसका नित्य स्मरण करेंगे तो वासनाओंकी ग्रंथियाँ छूट जायेंगी।

एक गृहस्थका नित्य कथाश्रवणका नियम था और वह बारह वर्षोंसे कथा सुनता आया था। एक ब्राह्मण रोज कथा करनेके लिये आता था। एक दिन सेठको बाहर जानेका प्रसंग उपस्थित हुआ। कथाश्रवणके नियमका पालन कैसे किया जाय ? उसने ब्राह्मणसे कहा कि मैं कल कथा नहीं सुन सकूँगा। मेरे नियमका क्या होगा ? ब्राह्मणने कहा कि तुम्हारा पुत्र कथा सुनेगा तो चल जायेगा। गृहस्थने पूछा कि कथा सुननेसे वह

वीतरागी बन गया तो ? ब्राह्मणने कहा—'बारह वर्षोंसे तुम कथा सुनते आये हो, फिर भी तुम वीतराग न हुए तो फिर एक ही दिनकी कथासे तुम्हारा पुत्र कैसे वीतरागी हो जायगा !' यजमान कहता है, 'हम तो रोज कथा सुनते हैं, किंतु मनकी गाँठ नहीं छोड़ते हैं ।' ऐसा मत करो। कथा सुननेपर मनकी गाँठ छूटनी चाहिये ।

जीव जबतक मनसे संसार-सुखका त्याग न करे तबतक भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है। भोगका भी त्याग नहीं करना है और भक्ति भी करनी है—यह कैसे हो सकता है ? धीरे-धीरे मनको, स्वभावको, सुधारना चाहिये । स्वभावके सुधरनेपर ही भक्ति सिद्ध होती है।

ज्ञान और वैराग्यको पुष्ट करनेके लिये ही यह भागवतकथा है ।

परमात्माके चरणोंका आसरा लेकर ही महापापी धुंधुकारी देवता-जैसा बना । धुंधुकारी कहता है—'इस कथासे ही मेरे-जैसे पापीको भी परमगति प्राप्त हुई ।'

धुंधुकारीको लेनेके लिये पार्षद विमान लेकर आये। गोकर्णने पार्षदोंसे पूछा—'केवल धुंधुकारीको लेनेके लिये ही विमान क्यों लाये और किसीको लेनेके लिये क्यों नहीं ?'

पार्षद कहता है—'वह (धुंधुकारी) एक आसनपर बैठता था, उपवास करता था और रोज कथाका मनन करता था, अतः वह विमानका पात्र है ।'

मनमें प्रभुके चरणमें निवास करना ही उपवास है। उपवासके समय कुछ भी खा लेनेपर पूर्ण उपवास नहीं होता है ।

कथा सुनकर केवल धुंधुकारीको ही मुक्ति क्यों मिली ? उसने कथाका मनन और निदिध्यासन किया था, अतः उसे मुक्ति मिली। कथा धुंधुकारीकी तरह ही सुननी चाहिये ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ज्ञान दृढ होता है ।

अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥

'बिना दृढ़ताका ज्ञान व्यर्थ है। उसी तरह लापरवाहीसे किया गया श्रवण भी व्यर्थ ही है। संदेहयुक्त मन्त्र व्यर्थ है। व्यग्रचित्तसे किये गये जपका भी कोई फल नहीं मिलता। संदेह करनेसे मन्त्र और चित्तके इधर-उधर भटकनेसे जप फलदायी नहीं होता ।' कथामें बिना मन बैठकर श्रवण करनेसे क्या लाभ ? वह फलदायी नहीं होता। कथा सुनते समय तन, मन और घरका भान भूल जाना चाहिये। देह-गेहात्मक विस्मृति और तन्मयतासे कथा सुननी चाहिये। मैं ईश्वरके साथ तन्मय होना चाहता हूँ, ऐसी भावना रखो। कथा सुनकर और मनन करके जीवनमें उतारोगे तो कथा-श्रवण सार्थक होगा। कथा सुनकर जीवनमें एक लक्ष्य निश्चित किया जाय। श्रीभागवत-भगवान्‌की कथा सुनकर कुछ ग्रहण करो। कथाका कोई एक शब्द भी मनको लग जाय तो जीवनका उद्धार हो जायगा ।

सबको प्रतीति हुई कि धुंधुकारीकी तरह हमने कथा नहीं सुनी, अतः हमें वैसी गति नहीं मिली। कथाका मनन करें, वह तो उत्तम है ही, परंतु मनन न करें तो भी लाभ तो होता ही है। इसके पश्चात् गोकर्णने श्रावण-मासमें दूसरी बार कथा करायी और सबका उद्धार हुआ ।

उस समय महारानी भक्ति वहाँ प्रकट हुईं। ज्ञान और वैराग्यके साथ आयीं। इस कथासे महारानी भक्ति प्रकट होती हैं। ज्ञान और वैराग्यके साथ भक्ति बढ़े तो मुक्ति मिले। ज्ञान और वैराग्यके बिना भक्ति

करनेसे मुक्ति नहीं मिलती। भक्ति महारानी आनन्दित हुईं और ज्ञान-वैराग्यके साथ नृत्य करने लगीं।

मूर्छित और क्षीण ज्ञानको फिरसे पुष्ट करनेके लिये, जागृत करनेके लिये श्रीभागवतकी यह कथा है।

गोकर्णके सभामण्डपमें भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने गोकर्णसे कहा कि मैं तुम्हारे कथा-कीर्तनसे प्रसन्न हुआ हूँ। तुम कोई वरदान माँगो।

उस समय सनत्कुमार कहते हैं कि जो मनुष्य श्रीकृष्णकी कथा करता, और कीर्तन करता है, उस वैष्णव भक्तके हृदयमें आप विराजमान होते हैं। तभी सबको सद्गति मिली है।

वैकुण्ठमें जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द श्रीभागवत-कथामें मिलता है। परंतु शर्त यह है कि प्रेमपूर्वक इस कथाका श्रवण किया जाय। कथा-श्रवणके समय इस जगत्को विस्मृत करना चाहिये। श्रीभागवत ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो मृत्युके पश्चात् ही मुक्ति दिलाये। यह तो मृत्युके पहले ही मुक्ति दिलाता है। भागवत मुक्ति प्राप्त करानेका शास्त्र है।

वेदान्तके दिव्य सिद्धान्त व्यासजीने इस माहात्म्यमें ही भर दिये हैं। छठा अध्याय विधि बतानेके लिये है।

सत्कर्म विधिपूर्वक किया जाय तो दिव्य बनता है। सत्कर्म कालके नियमसे अबाधित है। सत्यनारायणकी कथामें भी कहा है—

'सत्कार्य करनेमें देर न करो।'

धर्मराज युधिष्ठिरसे एक याचकने दान माँगा। धर्मराजने उसे अगले दिन आनेको कहा। भीमसेनने इस बातचीतको सुनते ही विजयदुंदुभि बजानी शुरू कर दी। सबने सोचा कि भीमसेन कहीं पागल तो नहीं हो गया है; क्योंकि विजयदुंदुभि विजयके समय ही बजायी जाती है। भीमसेनने इसका कारण बताते हुए कहा कि आज हमारे बड़े भाईने कालको भी नियन्त्रणमें कर लिया है। वे जान गये हैं कि वे अगले दिन भी जीनेवाले हैं। धर्मराजके कालविजयके उपलक्ष्यमें मैं यह दुंदुभि बजा रहा हूँ! धर्मराजको अपनी इस भूलका तुरंत ज्ञान हो गया।

कहा गया है—**'न जाण्यू जानकीनाथे सवारे शुं थवानुं छे।'** अर्थात् जानकीनाथ भगवान् श्रीराम भी नहीं जान सके कि कल प्रातःकाल क्या होगा।

धर्मराजने याचकको तुरंत वापस बुलाया और यथायोग्य दान दिया। सत्कर्म तत्काल करो।

भवरोगकी ओषधि है—भागवतकथा।

कथाके वक्ताके लिये भी कुछ जरूरी लक्षण बताये गये हैं। पहला लक्षण है विरक्त भाव। श्रीशुकदेवजी जगत्से अस्पृष्ट नहीं थे, फिर भी वे निर्विकार थे। हम भी जगत्में रहते हैं, देखते हैं, परंतु हमारी आँखें विकार-रहित नहीं हैं, श्रीशुकदेवजी ब्रह्मदृष्टिवाले थे। प्रत्येक स्त्री-पुरुषको वे भगवद्भावसे देखते थे।

प्रत्येक नर-नारीको भगवद्भावसे देखो।

सूतजी सावधान करते हैं।

क्या अर्थ है वैराग्यका? उपभोगके लिये अनेक पदार्थ सुलभ होनेपर भी मन उनके प्रति आकर्षित न हो, वही वैराग्य है। जगत्का त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। किंतु भोगदृष्टिसे देखनेकी वृत्तिका त्याग करना है। हमें अपनी विकारी दृष्टिको बदलना है। जगत्को कामदृष्टिसे, भोगदृष्टिसे मत देखो। जबतक दृष्टिका दोष नहीं जाता, तबतक हमारी दृष्टि देवदृष्टि नहीं होगी।

उपदेशकर्ता ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ होना चाहिये। वह धीर, गम्भीर और दृष्टान्तकुशल होना चाहिये।

वक्ता अति निःस्पृही भी होना चाहिये। द्रव्यका मोह तो छूट जाता है, परंतु कीर्तिका मोह छोड़ना बड़ा कठिन कार्य है। जीव कीर्तिका मोह रखता ही है। जो मनुष्य कीर्तिके मोहमें फँसा हुआ है, वह भक्ति नहीं कर सकता। जब भी कथा-श्रवण करें, संसारसे निर्लिप्त होकर करें। कथामें बैठकर भी घर-बार और धंधेकी बात ही सोचते रहनेसे मन विकृत होता है। कथामण्डपमें केवल कथाका ही विचार करो। अन्य सभी चिन्ताएँ छोड़कर कथामें बैठो।

वक्ता और श्रोताको चाहिये कि वे आँख, मन, वाणी, कर्म और प्रत्येक इन्द्रियसे ब्रह्मचर्यका पालन करें।

मन स्थिर करनेके लिये ऊर्ध्वरेता होना जरूरी है। ब्रह्मचर्यपालनसे ऊर्ध्वरेता हो सकते हैं। क्रोधित होनेसे पुण्यका क्षय होता है। वक्ता और श्रोता क्रोध न करें। विधिपूर्वक कथा-श्रवण करनेसे उसका फल प्राप्त होता है। कथाका श्रवण करनेवाले वैष्णव यमपुरीमें नहीं जाते। वे वैकुण्ठमें जाते हैं।

भागवतकी कथाका श्रवण जो प्रेमसे करता है, उसका सम्बन्ध भगवान्से जुड़ता है। भागवत भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप है। यह श्रीभगवान्‌का वाङ्मय-रूप है।

भागवत हर किसीके लिये है। भागवतका आश्रय लोगे तो भागवत तुम्हें भगवान्‌की गोदमें बिठलायेगा। यह तुम्हें निर्भय और निःसंशय करेगा।

दान-पान, व्यवहार, पत्रलेखन आदि सभी कार्योंकी विधियाँ भागवतमें बतायी गयी हैं। एक इसी ग्रन्थका अवलम्बन करनेसे सभी प्रकारका ज्ञान प्राप्त होगा। यह ग्रन्थ पूर्ण है। भागवत भगवान् नारायणका ही स्वरूप है।

कोई पूछे कि भागवत कितनी सुनी ? तो कहेंगे कि जितनी बातें जीवनमें उतारी गयीं उतनी। श्रवण की गयी बातोंका मनन करो और उसे व्यवहारमें कार्यान्वित करो। सुनी हुई बातकी सार्थकता उपयोगमें है।

केवल ज्ञान व्यर्थ है। जीवन-व्यवहारके काममें लाया हुआ ज्ञान ही सार्थक होगा। गाँधीजी भी कहते थे—'ढ़ाई मन ज्ञानकी अपेक्षा तोलाभर आचरण श्रेष्ठ हैं।'

प्रभुके दिव्य सद्गुणोंको जीवनमें उतारो। पूर्व-जन्मका विचार न करो।

जनक राजाने याज्ञवल्क्य ऋषिसे पूर्वजन्मोंकी जीवन-लीला देखनेकी माँग की। याज्ञवल्क्यने मना करते हुए कहा कि उसे देखनेसे दुःख ही होगा। फिर भी जनक राजाने दुराग्रह किया। ऋषिने राजाको उनके पूर्वजन्मोंका जीवन दिखाया। जनकराजाने देखा कि उनकी अपनी पत्नी ही पिछले जन्ममें उनकी माता थी। उन्हें दुःख हुआ। पिछले जन्ममें कौन किसका क्या रहा है, नहीं कहा जा सकता। यहाँ दो दिनका मेला है, झमेला है।

अतः यही अच्छा है कि पूर्वजन्मोंका विचार न करें। इसी जन्मको सार्थक करनेका प्रयत्न करें। यह ध्यान रहे कि **'एहि तन कर फल बिषय न भाई'**।

संयमका पालन करोगे, तप करोगे तो ईश्वर मिलेंगे। आत्माका तो धर्म है प्रभुके सम्मुख जाना। भागवत इसी धर्मकी शिक्षा देता है।

भारतका पुराण-साहित्य

(नित्य लीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

(गताङ्क ११ पृ०-संख्या ८६८ से आगे)

लोग कहते हैं कि 'तीर्थोंकी इतनी महत्ता बता दी गयी है कि सदाचार तथा ज्ञानके साधनोंका तिरस्कार हो गया है। तीर्थ-सेवनके कुछ अनुचित पक्षपातीलोग भी ऐसा कह देते हैं कि बस, अमुक तीर्थका सेवन करो, फिर चाहे जो पापाचार-अनाचार करो, कोई डरकी बात नहीं है।' पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इस भूलमें कोई न रहे, इसीसे पुराणोंमें जहाँ तीर्थादिका माहात्म्य प्रचुर मात्रामें लिखा गया है, वहीं ऐसी बात लिख दी गयी है, जो सारे भ्रमोंको दूर कर देती है। स्कन्दपुराणमें काशीका बड़ा माहात्म्य है। पर साथ ही कहा गया है कि पाप करनेवाले लोग काशीमें न रहें—

पापमेव हि कर्तव्यं मतिरस्ति यथेदृशी।
सुखेनान्यत्र कर्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी॥
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्।
अपि पापकृता काशी रक्ष्या मोक्षार्थिनैकिका॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी निरयः क्व सः॥
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र प्रतिग्रहैः।
परस्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः॥
परपीडाकरं कर्म काश्यां नित्यं विवर्जयेत्।
तदेव चेत् किमत्र स्यात् काशीवासो दुरात्मनाम्॥

(काशी० २२ । ९५–९९)

अर्थार्थिनस्तु ये विप्र ये च कामार्थिनो नराः।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेममिदं यतः॥
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः॥
परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये॥

(काशी० १२२ । १०१–१०३)

'मैं तो पाप करूँगा ही—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके लिये पृथ्वी बहुत बड़ी पड़ी है। वह काशीसे बाहर कहीं भी जाकर सुखसे पाप कर सकता है। कामातुर होनेपर भी मनुष्य एक अपनी माताको तो बचाता ही है। ऐसे ही पापी मनुष्यको भी मोक्षार्थी होनेपर एक काशीको तो बचाना ही चाहिये। दूसरोंकी निन्दा करना जिनका स्वभाव है और जो परस्त्रीकी इच्छा करते हैं, उनके लिये काशीमें रहना उचित नहीं। कहाँ मोक्ष देनेवाली काशी और कहाँ ऐसे नारकी मनुष्य जो प्रतिग्रहके द्वारा धनकी इच्छा करते हैं और जो कपट-जाल फैलाकर दूसरोंका धन हरण करना चाहते हैं, उन मनुष्योंको काशीमें नहीं रहना चाहिये। काशीमें रहकर ऐसा कोई काम कभी नहीं करना चाहिये, जिससे दूसरेको पीड़ा हो। जिनको यही करना हो, उन दुरात्माओंको काशीवाससे क्या प्रयोजन है!

'विप्रवर! जो अर्थार्थी या कामार्थी हैं, उनको इस मुक्तिदायी काशीक्षेत्रमें नहीं रहना चाहिये। जो शिवनिन्दामें और वेदकी निन्दामें लगे रहते हैं तथा वेदाचारके विपरीत आचरण करते हैं, उनको वाराणसीमें नहीं रहना चाहिये। जो दूसरोंसे द्रोह करते हैं, दूसरोंसे डाह करते हैं और दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, काशीमें उनको सिद्धि नहीं मिलती।'

पापात्मा तीर्थफलसे वञ्चित रहता है—यह स्पष्ट कहा गया है—

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥

(काशी० ६ । ५४)

'श्रद्धाहीन, पापात्मा (तीर्थमें पापीकी—पाप करनेवालेकी—शुद्धि होती है, पर जिसका स्वभाव ही पापमय है, उस 'पापात्मा'की नहीं होती,) नास्तिक,

संदेहशील और हेतुवादी—इन पाँचोंको तीर्थफलकी प्राप्ति नहीं होती।'

वस्तुतः तीर्थका फल किसको मिलता है ?—

प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥
(काशी० ६। ४९–५१)

'जो प्रतिग्रहसे निवृत्त है, जिस-किसी स्थितिमें ही संतुष्ट है और अहङ्कारसे भलीभाँति छूटा हुआ है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो दम्भ नहीं करता, सकाम कर्मका आरम्भ नहीं करता, स्वल्पाहार करता है इन्द्रियोंको जीत चुका है और समस्त आसक्तियोंसे भलीभाँति मुक्त है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो क्रोधरहित है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य-भाषण करता है, दृढ़निश्चयी है और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही जानता है, वह तीर्थफलका भोग करता है।' क्योंकि—

ये तत्र चपलास्तथ्यं न वदन्ति च लोलुपाः।
परिहासपरद्रव्यपरस्त्रीकपटाग्रहाः॥
मलचैलावृताशान्ताशुचयस्त्यक्तसत्क्रियाः।
तेषां मलिनचित्तानां फलमत्र न जायते॥
(वैष्णव० बदरि० ६। ६९–७०)

(भगवान् शंकर स्कन्दजीसे कहते हैं—)

'जो चलबुद्धि हैं, लोभी हैं और तथ्यकी बात नहीं कहते, जिनके मनमें परिहास, पर-धन और पर-स्त्रीकी इच्छा है तथा जिनका कपटपूर्ण आग्रह है, जो दूषित वस्त्र पहनते हैं, जो अशान्त, अपवित्र और सत्कर्मोंके त्यागी हैं, उन मलिनचित्त मनुष्योंको इस तीर्थमें कोई फल नहीं मिलता।'

तीर्थोंमें किस प्रकार रहना चाहिये, इसपर कहा गया है—

निर्ममो निरहङ्कारा निःसङ्गा निष्परिग्रहाः।
बन्धुवर्गेण निःस्नेहाः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः॥
भूतानां कर्मभिर्नित्यं त्रिविधैरभयप्रदाः।
सांख्ययोगविधिज्ञाश्च धर्मज्ञाश्छिन्नसंशयाः॥
(अवन्तिकाखण्ड ७। ३२–३३)

(इस क्षेत्रमें वास करनेवाले) 'ममतारहित, अहङ्कार-रहित, आसक्तिरहित, परिग्रहसे शून्य, बन्धु-बान्धवोंमें स्नेह न रखनेवाले, मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धि रखनेवाले, मन-वाणी और शरीरके द्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंसे सदा सब प्राणियोंको अभय देनेवाले, सांख्य और योगकी विधिको जाननेवाले, धर्मके स्वरूपको समझनेवाले और संशय-संदेहोंसे रहित हों।'

मानस तीर्थोंका वर्णन करते हुए यहाँतक कह दिया गया है कि—

शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे।
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं व्रतं तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तःसुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः ॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं यथा ।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः ।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥
(काशीखण्ड ६ । २९-४१)

अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—'निपापे ! मैं मानसतीर्थोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । इन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है । सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं । इनमें ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है । मनकी परम विशुद्धि तीर्थोंका भी तीर्थ है । जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है, जिसने इन्द्रिय-संयमरूप स्नान किया है, वही स्नान है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है ।

'जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दम्भी है और विषयोंमें फँसा है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है । शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता, मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है । जलजन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मैल नहीं धुलता । विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मैल है और विषयोंसे वैराग्यको ही निर्मलता कहते हैं । चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती । शराबके भाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही रहता है, वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवा और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ हैं । जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं; ध्यानसे विशुद्ध हुए रागद्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञान-जलमें जो स्नान करता है, वही परम गतिको प्राप्त करता है ।'

ऐसे प्रसङ्ग और भी आये हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि तीर्थ-व्रत करनेवालोंके लिये भी पापोंके त्याग, इन्द्रियसंयम और तप आदिकी बड़ी आवश्यकता है । इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि भौम तीर्थ कोई महत्त्व ही नहीं रखते । उनका बड़ा महत्त्व है और वे भी सच्चे हैं । वस्तुतः पुराण सर्वसाधारणकी सर्वाङ्गीण उन्नति और परम कल्याणकी साधन-सम्पत्तिके अटूट भंडार हैं । अपनी-अपनी श्रद्धा, रुचि, निष्ठा तथा अधिकारके अनुसार साधारण अपढ़ मनुष्यसे लेकर बड़े-से-बड़े विचारशील बुद्धिवादी पुरुषोंके लिये भी इनमें उपयोगी साधन-सामग्री भरी है । ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, नियम, सेवा, भूतदया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म, नारीधर्म, मानवधर्म, राजधर्म, सदाचार और व्यक्ति-व्यक्तिके विभिन्न कर्तव्योंके सम्बन्धमें बड़ा ही विचारपूर्ण और अत्यन्त कल्याणकारी अनुभूत उपदेश बड़ी रोचक भाषामें इन पुराणोंमें भरा गया है । साथ ही पुरुष, प्रकृति, प्रकृति-विकृति, प्राकृतिक दृश्य, ऋषि-मुनियों तथा राजाओंकी वंशावली तथा सृष्टिक्रम आदिका भी निगूढ़ वर्णन है । इनमें इतने अमूल्य रत्न छिपे हैं, जिनका पता लगाकर प्राप्त करनेवाला पुरुष लोक तथा परमार्थकी परम सम्पत्ति पा करके कृतकृत्य हो जाता है ।

ऐसे अठारह महापुराण हैं तथा अठारह ही उपपुराण माने जाते हैं । इधर चार प्रकारके पुराणोंका पता लगा

है—महापुराण, उपपुराण, अतिपुराण और पुराण। चारोंकी अठारह-अठारह संख्या बतायी जाती है, उनकी नामावलि इस प्रकार मिलती है—

महापुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड।

उपपुराण—भागवत, माहेश्वर, ब्रह्माण्ड, आदित्य, पराशर, सौर, नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण, औशनस, मानव, कापिल, दुर्वासस, शिवधर्म, बृहन्नारदीय, नरसिंह और सनत्कुमार।

अतिपुराण—कार्तव, ऋजु, आदि, मुद्गल, पशुपति, गणेश, सौर, परानन्द, बृहद्धर्म, महाभागवत, देवी, कल्कि, भार्गव, वाशिष्ठ, कौर्म, गर्ग, चण्डी और लक्ष्मी।

पुराण—बृहद्विष्णु, शिव उत्तरखण्ड, लघु बृहन्नारदीय, मार्कण्डेय, वह्नि, भविष्योत्तर, वराह, स्कन्द, वामन, बृहद्वामन, बृहन्मत्स्य, स्वल्पमत्स्य, लघुवैवर्त और ५ प्रकारके भविष्य।

इन नामोंमें, नामावलिके विभागमें और क्रममें अन्तर भी हो सकता है। यहाँ तो जैसी सूची मिली है, वैसी ही दे दी गयी है। यह भी सम्भव है कि इनमेंसे कई ग्रन्थ आधुनिक भी हों। यह अन्वेषण और गवेषणाका विषय है।

पुराण अमूल्य रत्नोंके अगाध समुद्र हैं। इनमें जो श्रद्धाके साथ जितना ही गहरा गोता लगायेंगे, वे उतनी ही विशाल रत्नराशिको प्राप्त कर धन्य हो सकेंगे।

नश्वर प्राणी

(रचयिता—श्रीशिवदत्तजी झा)

अरे कालके कवल अरे ओ पल-पलमें कँप उठनेवाले।
अरे बुलबुले भवसागरके देख नाशके बादल काले॥
नियति-नेमिका चक्र सनातन चलता ही रहता है प्रतिपल।
क्या तू रोक सकेगा इसको? है तुझमें भी क्या इतना बल?
चला थाहने इस असीम सागरको लेकर लघु तन-तरनी।
पर न पार कर सका अभीतक इस जीवनकी भी वैतरनी॥
बचा-बचा कर ले चल नौका लहरें उठती हैं तूफानी।
अरे पता तो लगा कहाँसे, इसमें बढ़ता जाता पानी॥
यौवनके वसंतसे विकसित जबतक रहा सुमन-सा चोला।
अरे अभागे कभी न तब-तक राम-नाम तू मुख से बोला॥
हुआ चार नरके कंधोंपर चला सत्यता सिखलानेको।
स्वासहीन केवल मिट्टीमें राम-नामको कहलानेको॥
अरे रूप पै मरनेवाले, क्यों न हो रहा अब मतवाला।
क्या स्वर्ण-सी है न सुन्दरी, देख चितानलकी वह ज्वाला॥
लाल और नीलमसे निर्मित अरे देख उद्दाम शिखाएँ।
चाह रही तेरा आलिंगन रूप-गर्विता शामा चिताएँ॥

साधकोंके प्रति—

[सन्तचरण-रजका तात्पर्य]

(श्रद्धेय श्रीस्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीभगवान् और उनके भक्तोंकी महिमा अपार है। उन दोनोंकी महिमा अपार होते हुए भी हम साधारण लोगोंके लिये तो भगवान्‌की अपेक्षा सन्त-महात्माओंकी महिमा ही अपार है; क्योंकि वे हमारे काम आते हैं। जैसे, समुद्र बहुत बड़ा है, पर हमें तो बादलोंसे ही जल मिलता है। अतः हमारे लिये बादल ही बड़े हैं। ऐसे ही हमें लाभ तो सन्त-महात्माओंके द्वारा ही हुआ है और होता है। इस कारण हमारे लिये सन्त ही बड़े हैं।

अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अनेक बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं और उनके द्वारा मनुष्योंको शिक्षा मिली है तथा मनुष्य पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा विशेषताको प्राप्त हुए हैं। जिन महापुरुषोंसे ऐसा ज्ञान हुआ है, उन महापुरुषोंकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी थोड़ी ही है। ऐसे महात्मा पुरुषोंकी चरण-रज्जीका बड़ा माहात्म्य है। चरण-रज्जीका माहात्म्य कहनेका तात्पर्य उनकी महिमामें है। वे जहाँ चलते-फिरते हैं, वहाँकी रेणु पवित्र हो जाती है। जब उनके चरणके स्पर्शमात्रसे रेणु पवित्र हो जाती है, तो वे स्वयं कितने पवित्र होंगे? रामगीतामें आया है—

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
यदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

अर्थात्—जो मेरे सगुणरूपका ध्यान करता है अथवा निर्गुणका ध्यान करता है, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है। वह पृथ्वीपर घूमता है, तो अपने चरणोंसे पृथ्वीको पवित्र करता हुआ त्रिलोकीको पवित्र करता है। इसमें दृष्टान्त दिया है—**'यथा रविः'** अर्थात् जैसे सूर्य जिधर जाता है उधर ही प्रकाश कर देता है, वहीं दिन हो जाता है, ऐसे ही वह भक्त है। तात्पर्य है कि सूर्य तो बाहर ही प्रकाश करता है; पर सन्त-महापुरुष भीतर प्रकाश कर देते हैं। उनके द्वारा साधारण आदमीको भी बहुत विलक्षण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसके भीतरकी आँखें खुल जाती हैं कि मैं क्या हूँ, कैसा हूँ और परमात्मा क्या हैं तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? इन सब बातोंका उसको ज्ञान हो जाता है। उसको होश हो जाता है। जैसे कोई बेहोश आदमी हो और वह होशमें आ जाय अथवा कोई गाढ़ नींदमें हो और वह जागृतिमें आ जाय, ऐसे ही महान् अज्ञानमें पड़ा हुआ प्राणी एक विशेष ज्ञानमें आ जाता है। फिर उसको पता लगता है कि अरे! मैं क्या था और क्या हो गया! मैं कैसी दशामें था और कैसी दशामें आ गया हूँ! पर जबतक वह बेहोशीमें रहता है, तबतक इन बातोंका पता नहीं लगता। पता तो होश आनेपर ही लगता है। इस तरह सन्त-महापुरुषोंकी विशेष कृपा होती है।

लोग कहते हैं कि हम चरणरज्जी ले लेंगे तो हमारा कल्याण हो जायगा। सन्त लेने नहीं देंगे तो हम छिपकर ले लेंगे, चोरी करके ले लेंगे। पर भाई, इससे कल्याण नहीं होगा, उद्धार नहीं होगा। अगर उनके चरणोंकी रज्जीसे उद्धार हो जाय तो वे जहाँ घूमते हैं, वहाँकी रज्जी पोटलीमें बाँधकर सब कुओंमें डाल दें तो जो जल पियेंगे, उन सबका उद्धार हो जाय! परंतु यह सब फालतू बात है। धूलमें धूल है। धूलमें क्या पड़ा है? तात्पर्य है कि सन्तोंका इतना माहात्म्य होता है कि उनके छूनेवाली हवामें भी माहात्म्य है, उनके चरणोंमें भी माहात्म्य है, उनके चरणोंकी रज्जीमें भी

माहात्म्य है, उनके दर्शनमें भी माहात्म्य है। पर मूल माहात्म्य तो उनके ज्ञानका है। जिन्होंने संस्कृतमें 'संक्षेप-शारीरक-भाष्य' लिखा है, उन सर्वज्ञमुनिने इस विषयमें लिखा है—**यत्पादपङ्कजरजःश्रयणं विना मे सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुरासीत्।**—'मैंने जब-तक उन महापुरुषोंकी चरणरज्जीका आश्रय नहीं लिया, तब-तक होता हुआ भी वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा नहीं-की तरह था अर्थात् उनकी चरण-रज्जीको स्वीकार किये बिना भगवान् हैं कि नहीं, इसका पता ही नहीं था;' परंतु—**यत्पादपङ्कजरजःश्रयणादिदानीं नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः॥** 'जब मैंने उनकी चरणरज्जीको स्वीकार किया, तो न भेदबुद्धि थी, न है और न होगी। अतः यहाँ चरणरज्जीको स्वीकार करनेका तात्पर्य उनकी अनुकूलताको स्वीकार करना ही है।

सन्तोंकी कृपा कब होती है? उनके मनके अनुकूल बननेसे। जैसे दूध पीनेके लिये बछड़ा सामने आ जाय तो गायके शरीरमें रहनेवाला दूध थनोंमें आ जाता है। ऐसे ही कोई श्रद्धा-प्रेमपूर्वक सन्त-महापुरुषोंसे प्रश्न करता है, तो उन्होंने जितना ज्ञान संचय किया है, वह सब-का-सब उनकी बुद्धिमें, मनमें, वाणीमें आने लगता है, टपकने लगता है। यह सब उनके अनुकूल बननेकी महिमा है, धूलकी महिमा नहीं है, मिट्टीकी महिमा नहीं है। इसलिये वे जिस ज्ञानसे महापुरुष बने हैं, वह ज्ञान उनसे लेना चाहिये। जैसे, बाजारमें जाओ तो कपड़ा कपड़ेके बाजारमें मिलेगा और सागपत्ती सागपत्तीके बाजारमें मिलेगी, ऐसे ही जो वास्तविक तत्त्व है, वह तो उस तत्त्वको जाननेवाले जहाँ हैं, वहीं मिलेगा। उसी तत्त्वको लेनेमें तात्पर्य है चरणरज्जीका, पर लोग तो रज्जी लेनेमें लगे हुए हैं! अगर उनकी चरणरज्जीमें इतना माहात्म्य है, तो उनमें कितना माहात्म्य होगा! उनके ज्ञानमें कितना माहात्म्य होगा! उनकी जानकारीमें कितना माहात्म्य होगा! वे कितने विशेष जानकार होंगे! वह जानकारी हमें ग्रहण करनी चाहिये।

सज्जनो! आप खूब ध्यान दें। आप सब-के-सब योग्य हैं, अयोग्य नहीं हैं। आप निर्बुद्धि नहीं हैं। आप अपात्र नहीं हैं। आपकी केवल इस तरफ उत्कण्ठा नहीं है, यही आपमें कमी है। मैं आपको ऐसा नहीं समझता हूँ कि आप पापी हैं, अयोग्य हैं, नीच हैं। आप केवल इधर ध्यान नहीं देते, इधर लक्ष्य नहीं करते, नहीं तो बड़ी सुगमतासे वह तत्त्व प्राप्त हो जाय। जो महान् विभूति है, महान् गुण है, महान् अवस्था है, जिसकी शास्त्रोंमें, वेदोंमें, पुराणोंमें बड़ी भारी महिमा गायी गयी है, उसको आप सब-के-सब प्राप्त कर सकते हैं। केवल उस तत्त्वके लिये उत्कण्ठित हो जायँ तथा अपनी जिदको, अपनी बुद्धिमानीके अभिमानको छोड़ दें, जिससे आपकी उत्कण्ठा देखकर वे सन्त-महात्मा द्रवित हो जायँ, प्रसन्न हो जायँ। उनकी जो खुशी है, प्रसन्नता है, उसमें बहुत विलक्षणता भरी हुई रहती है। ऐसे कोई महापुरुष मिल जायँ तो उनके सामने हमें मेहनत नहीं करनी पड़ती।

अर्जुनने भी 'मैं आपका शिष्य हूँ'—**'शिष्यस्तेऽहम्'** कहकर 'मैं आपके शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये'—**'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कहा है। शिष्य बननेसे भी अधिक विलक्षणता शरण होनेमें है। 'शिष्य बन गया' इतनेसे वह लाभ नहीं होता, जो कि अधीन होनेसे, उत्कण्ठित होनेसे होता है। उत्कण्ठा होनेसे ही वह विलक्षण चीज मिलती है। जैसे छोटा बच्चा केवल माँका ही दूध पीता है। दूधके सिवाय कुछ भी नहीं लेता। वह अगर रोगी हो जाता है, तो उसके लिये माँको दवाई लेनी पड़ती है। माँ दवाई लेती है तो उससे बालक ठीक हो जाता है; क्योंकि वह केवल माँके ही दूधपर निर्भर रहता है। ऐसे ही केवल परमात्मतत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठावाले साधक सन्त-

महात्माओंकी कृपाके ही आश्रित रहते हैं। अपनी कुछ भी बुद्धिमानी नहीं लगाते, अपना कुछ भी अभिमान नहीं रखते। 'मेरा उद्धार कैसे होगा' ऐसी कुछ भी चिन्ता नहीं करते। वे सन्त-महात्मा जो कुछ कहें, जो कुछ समझायें, उसीके अनुसार अपना जीवन बनाना है—ऐसा जिनका भाव हो जाता है, उन साधकोंके उद्धारके लिये उन सन्त-महात्माओंको उद्योग करना पड़ता है अर्थात् उन साधकोंको मुफ्तमें वह तत्त्व मिल जाता है। अतः उन महापुरुषोंके आश्रित होकर उस तत्त्वको प्राप्त कर लेनेका ही माहात्म्य है, उनके चरणोंकी रजीका, धूलका माहात्म्य नहीं है।

हम धूलसे भी नीचे हैं—इस भावको लेकर सन्त-महापुरुषोंसे बड़ी भारी चीज ले लें। हम छोटे बनकर, जिज्ञासु बनकर, अपनी बुद्धिमानी न लगाकर केवल सन्त-महापुरुषोंके अधीन हो जायँ, तो वे हमें भी सन्त बना देते हैं। इसलिये कहा है—

पारसमें अरु संतमें, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

'पारस और सन्तमें बड़ा अन्तर है। पारस तो लोहेको सोना बना देता है। पारससे बना हुआ सोना दूसरे लोहेको सोना नहीं बना सकता, पर सन्त-महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त किये हुए पुरुष ऐसे सन्त बन जाते हैं कि वे दूसरोंको भी सन्त बना देते हैं। वहाँ सोनेकी नहीं, पारसकी खान खुल जाती है।' इसमें और एक बात है। धनी आदमी दूसरेको धनी नहीं बनाना चाहता। वह तो व्यापारकी बात भी दूसरोंको बताना नहीं चाहता। परंतु जो सन्त-महात्मा पुरुष हैं, उनको जो कुछ चीज मिली है, जो कुछ लाभ हुआ है, उसको वे बताना चाहते हैं। उसको बतानेके लिये उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा होती है। उनकी बात कोई मान लेता है, उनके कहे अनुसार साधन करता है, तो वे सन्त-महात्मा बड़े प्रसन्न होते हैं। उनकी इस प्रसन्नतामें ही जीवका कल्याण भरा रहता है। ऊपरकी सेवा करो, दण्डवत् करो, नमस्कार करो, चरणरजी उठाओ, जूठन खाओ—ये सब फालतू बातें हैं, निकम्मी बातें हैं, अश्रद्धा पैदा करनेवाली बातें हैं। परंतु उनके कहे अनुसार जीवन बनायें, उनके सिद्धान्तोंका पालन करें तो आपलोग दुनियाका उद्धार कर सकते हैं।

आज संसारमें जो नास्तिकता है, लोग ईश्वरको, सन्तोंको और शास्त्रोंको नहीं मानते, इसका कारण यही है कि लोग असली तत्त्वकी तरफ तो ध्यान देते नहीं और जूठन खाना, चरणरजी लेना आदि ऊपरकी बातें कर लेते हैं। परंतु इससे लाभ होता नहीं। जब इससे लाभ नहीं होता तो वे कहते हैं कि यह जो सन्तोंकी चरणरजीकी, जूठनकी महिमा लिखी है, वह झूठी ही लिखी है; क्योंकि हमने वैसा करके देखा तो हमें इससे लाभ हुआ नहीं।

सन्तोंकी चरणरजका तात्पर्य उस तत्त्वको जाननेकी जिज्ञासासे है। उस तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये केवल उत्कण्ठा, केवल भूख हमारी होनी चाहिये। जैसे, बालकको भूख हो तो फिर दूधका प्रबन्ध करेंगे। माँका दूध नहीं होगा तो और जगहसे लाकर पिलायेंगे; क्योंकि माँका दूध ज्यादा हो जाय, यह हाथकी बात नहीं है। परंतु भगवान् और सन्त-महात्माओंकी शक्तिका कोई पारावार नहीं है, वह अपार है, अनन्त है। सन्तोंके यहाँ तो आदमी जितना ज्ञान लेते हैं, उतना ही उनका ज्ञान अधिक हो जाता है। इसलिये कहा है कि 'हे सरस्वती! तेरा जो भण्डार है, खजाना है, वह बड़ा विलक्षण है। दूसरा खजाना तो ज्यों-ज्यों खर्च करते हैं, त्यों-ही-त्यों उसमें कमी आती जाती है, पर तेरे खजानेसे तो ज्यों-ज्यों खर्च करते हैं, त्यों-ही-त्यों उसमें वृद्धि होती जाती है। जैसे, कोई व्यक्ति दूसरोंको ज्यों-ज्यों पढ़ाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी पढ़ाई विलक्षण होती

जाती है। ब्रह्मविद्या तो इससे भी बहुत विलक्षण रीतिसे बढ़ती है, उमड़ पड़ती है।

जब सन्तोंकी चरणरजका, उनके दर्शनका भी इतना माहात्म्य लिखा है, तो वे जिस चीजसे इतने ऊँचे उठे हैं, उस चीजका कितना माहात्म्य होगा! और वह चीज हम सबको मिल सकती है। उस चीजको देनेके लिये उन सन्त-महापुरुषोंकी बड़ी भारी लालसा रहती है। जैसे, बालकके प्रति माँकी जितनी उत्कण्ठा होती है, उतनी उत्कण्ठा बालककी माँके प्रति नहीं होती। ऐसे ही साधारण आदमियोंके भीतर अपने कल्याणकी उतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी चिन्ता उन महापुरुषोंके भीतर उनके कल्याणकी होती है। वे चाहते हैं कि जल्दी-से-जल्दी, सुगमतासे इनका कल्याण हो जाय। उनके भीतर तो कल्याणका खजाना ही भरा पड़ा है! परंतु जो उसको सच्चे हृदयसे चाहनेवाले हैं, वे ही उसको ले सकते हैं। भगवान्‌की, सन्त-महात्माओंकी कृपा रहते हुए भी बिना उत्कण्ठाके, बिना लालसाके भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकते।

प्रसादे सर्वदुःखानाम्

(लेखक—डॉ० श्रीभगवतीशरणजी मिश्र)

यह संसार दुःखमय है। योगदर्शनमें लिखा है कि **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।** (पा० यो० द० २। १५)

अर्थात्—'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार-दुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं।'

संसार दुःखोंका जंजाल है। इसमें दुःखोंकी सीमा नहीं है। अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियों एवं शोक-चिन्ताओंसे मनुष्य ग्रस्त है, अतएव दुःखी है। मनुष्य यतः मननशील या विचार-प्रधान प्राणी है, अतः यह दुःखोंसे निवृत्ति-हेतु निरन्तर प्रयत्नशील होता चला आया है। दुःखोंसे छुटकारा पाये बिना मनुष्य बेचैन बनकर रहना नहीं चाहता। पर प्रश्न यह है कि दुःखोंसे छुटकारा मिले तो कैसे मिले! हम संसारके प्राणी हैं और संसारमें रहते हैं। संसार दुःखसागर है। दुःखसागरमें रहकर कोई कैसे सुखी हो सकता है!

प्रश्न जटिल है, पर शास्त्रोंने इसका समाधान किया है। सर्वशास्त्रमयी गीताका कहना है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(२। ६५)

अर्थात्—'अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके (शुद्ध अन्तःकरणवाले कर्मयोगी या साधकके) सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

प्रसन्नचेता दुःखोंके निवारणमें समर्थ होता है। प्रसन्नचेता बननेका उपाय है मन और इन्द्रियोंको वशमें करके कर्तव्य कर्मोंको कर्त्तव्य-बुद्धिसे करते जाना और अनासक्त भाव बनाये रखना। यह सब अभ्याससे संभव है। केवल मन और इन्द्रियोंपर नियन्त्रण कर लेनेका प्रयास कर लिया जाय तो आगेका पथ स्वयं प्रशस्त हो जाता है। परार्थ अथवा स्वकर्तव्य-विहित कर्मोंको अनासक्त भावसे करनेपर मनुष्य उन कर्म-फलोंके बन्धनमें नहीं आने पाता जो (बन्धन) जन्म-मरणरूप दुःखका मूल कारण होता है।

संसार तो दुःखमय है ही, पर उसमें रहकर सच्चिदानन्द परमात्मासे योग कर लेनेपर संसारकी दुःखमयताकी अनुभूति नहीं होती और परमात्माकी आनन्दमयताका अनुभव होने लग जाता है। इसी स्थितिको उपर्युक्त भगवद्वाक्य उजागर करता है।

यह जीव भी आनन्दमय परमात्माका ही अंश है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥'

(गीता १५। ७)

अर्थात्—'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही प्रकृतिमें स्थित, मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।'

जब परमात्मा आनन्दमय हैं तो उनके अंश जीवको भी आनन्दमय ही होना चाहिये। पर माया अथवा प्रकृतिके संसर्गसे उसे दुःखानुभव होता है। इस अनुभवके लिये उपर्युक्त भगवद्वचनका सहारा लेकर सांसारिक विषयोंकी आसक्तिसे मनको हटानेका अभ्यास निरन्तर करना चाहिये। उस अभ्याससे बुद्धि पर्यवसित होकर आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी दिशामें स्थित हो जाती है और संसारके विषम दुःखदावानलके संतापसे प्राणी सुरक्षित हो जाता है। मूल बात है, मनःशुद्धि, बुद्धिकी पर्यवसिति। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि मायिक सम्बन्धको धीरे-धीरे ढीला किया जाय और अन्ततः उसे त्याग दिया जाय। मायाका पर्दा ज्यों ही हटा कि आनन्दमय प्रभुका दर्शन हुआ। फिर तो दुःखकी अत्यन्त हानि (अभाव) सुतरां सिद्ध है। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि दुःखका मूल कारण है माया-मूलक कामना या वासना। कर्म-फलोंसे आसक्ति (अत्यन्त लगाव) हटा देनेपर कामना समाप्त हो जाती है और तब चित्त स्वच्छ, प्रसन्न हो जाता है। फिर तो दुःखानुभवका प्रसंग ही समाप्त अथवा समाप्त-प्राय हो जाता है और चरमलक्ष्यकी सिद्धि-दिशामें मनुष्य प्रगति कर जाता है।

बुद्धिकी परिष्कृतिपर भगवान्‌ने गीतामें बहुत बल दिया है। बुद्धिके परिष्कारपर ध्यान न देनेसे सुख-दुःखकी बात तो अलग, सम्पूर्ण विनाशकी भी स्थिति आ सकती है। बुद्धिके नष्ट होनेका परिणाम विनाश गीता सूचित करती है—**'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** (गीता २। ६३)। यह उक्ति उसी विनाशकी दिशाका संकेत करती है। भगवान्‌ने बुद्धिका स्थान इन्द्रियों और मनके ऊपर रखा है, केवल आत्मा ही बुद्धिसे ऊपर है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता ३। ४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।' आत्मासे अवर बुद्धि है। उसका निर्मलीकरण नितान्त आवश्यक है; क्योंकि बुद्धिको परिष्कृत कर देनेपर आत्मसाक्षात्कार सुलभ हो जाता है। अपरिष्कृत बुद्धि सांसारिक दुःखोंकी उत्पादिका होती है।

वस्तुतः सुख और दुःख कोई किसीको देता नहीं, प्रत्युत हमारी बुद्धि ही हमारे सामने सुख-दुःखका द्वन्द्व खड़ा करती है। यही कारण है कि कोई स्थिति किसी व्यक्तिके लिये दुःखदायी हो सकती है और वही किसीके लिये सुखदायी। धन-दौलतका चोरोंद्वारा हरण कर लिया जाना किसी भौतिकवादीके लिये महान् कष्टकर हो सकता है, परंतु वह किसी वीतरागीके लिये महान् सुखका भी कारण हो सकता है कि 'चलो, मायाका बन्धन कटा, अब ठीकसे हरिभजन होगा।' यह बात केवल हमारे ही धर्म और साहित्यमें हो, यह बात नहीं। अंग्रेजीवाले भी कहते हैं—कोई चीज अच्छी-बुरी नहीं है। हमारे विचार ही इसे वैसा बनाते हैं—'नथिंग इज गुड आर बैड आवर थॉट्स मेक इट सो।' विचार बुद्धि-प्रसूत ही तो होते हैं।

यह प्रकारान्तरसे कहा गया कि व्यवस्थित बुद्धि प्रसन्नताका कारण होती है और दुःखके विनाशमें सहायिका सिद्ध होती है। किंतु गीताके दूसरे अध्यायमें जिस 'प्रसाद' शब्दका प्रयोग किया गया है, वह मात्र प्रसन्नताका पर्यायवाची नहीं है। 'प्रसाद' का तात्पर्य अन्तःकरणकी उस निर्मलता अथवा विशुद्धतासे है जिसकी प्राप्तिपर वह स्वयं ही प्रफुल्लित और प्रसन्न हो जाता है तथा बुद्धि भी व्यवस्थित हो जाती है। प्रश्न यह है कि 'प्रसाद' की यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय। गीताने इस स्थितिकी प्राप्तिके उपायका अधिक खुलासा निम्नलिखित श्लोकमें किया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(२। ६४)

अर्थात्—'राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ स्वाधीन अन्तःकरण-वाला पुरुष 'प्रसाद' की स्थितिको प्राप्त करता है।'

यहाँ इस आधारपर **'प्रसादे सर्वदुःखानाम्'** को ध्यानमें रखते हुए अगर 'प्रसाद' के द्वारा दुःखका विनाश करना है तो निम्नलिखितको भी सुनिश्चित करना पड़ेगा—

(१) आत्माकी स्वाधीनता अथवा आत्माका माया-मोह आदिके बन्धनमें नहीं होना। (२) राग-द्वेषसे रहित होना तथा (३) इन्द्रियोंका अपने अधिकारमें होना। उपर्युक्त श्लोकके ठीक बाद ही—**'प्रसादे सर्वदुःखानाम्'** से आरम्भ होनेवाला श्लोक आता है। अतः गीताके द्वितीय अध्यायके ६४वें श्लोकका बहुत महत्त्व है; क्योंकि 'प्रसाद' की जिस स्थितिकी प्राप्तिके पश्चात् दुःखकी समाप्ति हो जाती है, उस स्थितिकी प्राप्तिका सहायक यही वह श्लोक है, जिसमें स्वाधीन अन्तःकरण तथा राग-द्वेषसे रहित नियन्त्रित इन्द्रियोंको प्रसादकी स्थितिका कारण बताया गया है।

राग-द्वेषको गीताने स्थान-स्थानपर निन्द्य बताया है। **'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'** से लेकर **'वीतरागभयक्रोधः'**के सदृश उक्तियाँ राग-द्वेषके विरोधमें कही गयी हैं। जहाँ-तक आत्म-स्वातन्त्र्यका प्रश्न है, गीतासे लेकर उपनिषदोंतकमें इसकी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा गया है। इन्द्रियोंको अधिकारमें रखनेकी अनिवार्यता गीता एवं उपनिषदोंके अलावा हमारे अन्य सभी आर्ष-ग्रन्थोंमें भी आयी है। गीताने तो स्पष्ट कहा है कि जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे अलग हैं अर्थात् विषयोंके वशमें नहीं हैं, अपने वशमें हैं उसीकी बुद्धि स्थिर है—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२। ७४)

गीताके द्वितीय अध्यायके इकसठवें श्लोकमें यह स्पष्ट किया गया है कि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'

इस प्रकार हम निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि प्रसन्नताके लाभ अथवा दुःखके विनाशके लिये जो अन्तिम शर्त है, वह यह है कि इन्द्रिय-निग्रह किया जाय। इसके लिये आवश्यक है कि हम आत्मस्वरूपका परिचय प्राप्त कर आत्मोन्मुख हों—विषयरसको छोड़कर आत्मानन्दकी ओर प्रवृत्त हों।

गीतामें भगवान्ने ठीक ही कहा है कि बुद्धिसे भी परे अर्थात् उससे भी सूक्ष्म और बलवान् अपनी आत्माको पहचानकर ही उसीके द्वारा कामरूपी शत्रुका विनाश करो—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(३। ४३)

कामरूपी शत्रुके विनाशके बिना—कामनाके सर्वथा त्यागके बिना प्रसन्नता, वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त हो

सकता—संसारका क्लेश-कष्ट नहीं मिट सकता। सत्य तो यह है कि इन्द्रिय-पारवश्यसे रहित होकर आत्मवश्य हुआ जाय।

एक स्वाधीन आत्मा इस कारण हमारे सभी दुःखोंके विनाश और हमारे आह्लादका कारण बनती है, क्योंकि वह परमात्माके बहुत समीप है, बल्कि उसमें परमात्माका ही वास है, तत्त्वतः तादात्म्य है। ईशावास्योपनिषद्‌की उक्ति **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्'** से लेकर गीताकी उक्तियाँ—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गी० १५। १५) तथा **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गी० १८। ६१) एवं **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (गी० १०। २०)—उपर्युक्त इसी तथ्यको बार-बार दोहराती है।

निष्कर्षके रूपमें यही कहा जा सकता है कि सांसारिक दुःखसे त्राणका एक उपाय है और वह है स्वयंकी आत्माका स्वरूपबोध। इस स्वरूपबोधका एक प्रमुख उपाय है श्रद्धा और विश्वासका शंबल। गोस्वामीजीने ठीक ही कहा है कि इनके बिना अपने ही अंदर स्थित उस सार्वभौम सत्ताका साक्षात्कार असम्भव है—

'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥'

निष्कर्ष यह कि 'इन्द्रियसंयमसे कामनाका त्याग करते हुए श्रद्धा और विश्वासका शंबल लेकर आत्मबोधकी दिशामें बढ़ना चाहिये, यही प्रसाद-प्राप्तिका सुगम श्रेष्ठ उपाय है। और, इसीसे सभी दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है।

तपोव्रत एवं हरिनामकी पापनाशकता

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

शङ्का—मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें ब्रह्महत्या, मातृगमन, मद्यपान आदि महापापोंके ही नहीं, किंतु गोहत्या, पशुगमन, मूत्रपान जैसे उपपातकोंके तथा क्षुद्रपापोंके नाशके लिये भी अतिकष्टदायक कठिन चान्द्रायणादि व्रतों तथा निराहार व्रतोंका विधान किया गया है; यदि हरिनाम लेने या गङ्गा-स्नान करने-जैसे कष्टरहित सुखद सुगम साधनोंसे भी ब्रह्महत्या आदि महापापोंका भी विनाश होना स्वीकार किया जायेगा तो मनुस्मृति-कथित कष्टदायक साधनोंमें किसीकी प्रवृत्ति ही न होगी। ऐसी दशामें उनकी व्यर्थता होगी।

समाधान—इस शङ्काका समाधान विद्वानोंने अनेक प्रकारसे किया है।—

(१) मनुस्मृति-कथित साधन बहुत कष्टसाध्य होनेसे कामनापूर्वक प्रकटरूपमें किये गये ब्रह्महत्यादि महापापोंके तथा गो-हत्यादि उपपातकोंके नाशक हैं। भगवन्नाम-जप, गङ्गा-स्नानादि कष्टरहित होनेसे अप्रकट-रूपमें किये गये मांस आदि अभक्ष्य-भक्षणरूप क्षुद्रपापोंके नाशक हैं। इस प्रकार दोनोंकी सार्थकता सिद्ध होनेसे किसीकी भी व्यर्थता न होगी।

(२) अन्य विद्वानोंका कहना है कि हरिनाम-जपसे ब्रह्महत्या आदि महापापोंका भी नाशकी होता है, ऐसा पुराणोंमें स्पष्ट वर्णन है। अतः जिसकी नाममें विशेष श्रद्धा-भक्ति है, उस व्यक्तिके सभी पापोंका नाश हरिनामसे ही हो जाता है। किंतु जिनकी स्मार्तविधियोंमें श्रद्धा-भक्ति अधिक है, उनके पापोंका नाश स्मृतियोंमें कथित प्रायश्चित्तोंसे होता है, अतः उनकी भी व्यर्थता नहीं है।

(३) अन्य विद्वानोंका कहना है कि पाप करनेके बाद जिन्हें अति पश्चात्ताप होता है, उन पुरुषोंके लिये हरिनाम-स्मरण ही पापनाशक है। ऐसा विष्णुपुराणमें कहा भी गया है—

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्॥
(२। ६। ३८)

(४) अन्य विद्वान् कहते हैं कि मरणकालमें स्मार्त प्रायश्चित्तोंका अनुष्ठान सम्भव न होनेके कारण म्रियमाण पुरुषके लिये हरिनाम ही सर्वविध पापोंका नाशक है। जीवनकालमें स्मार्त प्रायश्चित्त ही पापनाशक होते हैं, अतः उनकी व्यर्थता नहीं होगी।

(५) कुछ विद्वानोंका कहना है कि अजामिलके हृदयमें अपने किये पापोंके लिये जरा भी पश्चात्ताप नहीं था, हरिनामके प्रति श्रद्धा-भक्ति भी नहीं थी, विष्णु भगवान्के दूतोंद्वारा यमगणोंसे मुक्त किये जानेपर उसने बहुत कालतक जीवन भी व्यतीत किया, तो भी पुत्रके नामके बहानेसे लिये गये—'नारायण' इस हरिनामने उसके समस्त पापोंका नाश कर दिया। इसीलिये भागवतमें उस प्रसङ्गमें कहा है कि 'संकेत, परिहास, गाने, बुलानेमें भी लिया गया हरिनाम समस्त पापोंका हरण करता है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(श्रीमद्भा० ६। २। १४)

अतः श्रद्धा आदिकी शर्त लगाना ठीक नहीं।

श्रद्धा-भक्तिसहित निरन्तर जो हरिनाम लेते हैं उनके हृदयसे तो पापवासनाका भी नाश हरिनामसे ही हो जाता है और अन्तकालमें हरिनाम उच्चारण न होनेपर भी मुक्ति अवश्य हो जाती है।

मरणकालमें किसी भी प्रकारसे एक बार भी लिया गया हरिनाम सब पापोंका नाश करके मुक्ति भी वैसे ही प्रदान कर देता है, जैसे शास्त्रप्रमाणके आधारपर काशीमरण मुक्ति प्रदान करता है।

हरिनामकी ऐसी महिमा होनेपर भी जिनके हृदय अत्यन्त दुर्वासनासे युक्त हैं, उनकी सरल भगवन्नाममें वैसे ही श्रद्धा नहीं होती जैसे अति धनियोंकी सरल चिकित्सामें श्रद्धा नहीं होती। अतः उनके लिये कठिन स्मार्त प्रायश्चित्तोंकी सार्थकता है।

(६) पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय, अनुकरणीय, सर्वदर्शनमर्मज्ञ, वेदान्तविशेषज्ञ, इतिहास-पुराण-भक्ति-धर्मशास्त्र-समन्वय-मर्मज्ञ, ज्ञान-भक्ति-धर्मनिष्ठ करपात्रीजी महाराजका तो कहना है कि भगवन्नाम-ग्रहणसे अलौकिक भक्ति-मुक्ति-प्रतिबन्धक पापोंका नाश अवश्य हो जाता है, तथापि लौकिक व्यवहार-शुद्धिके लिये स्मार्त प्रायश्चित्तोंकी सार्थकता है। यही कारण है कि हरिनामको प्रधान माननेवाले अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थ-स्थानके विद्वान् भी लौकिक व्यवहार-शुद्धिके लिये स्मार्त प्रायश्चित्तोंके ही अनुष्ठानका विधान करते हैं।

एकान्तमें किये गुप्त पापोंमें पुनः प्रवृत्ति न हो, इसलिये उन गुप्त पापोंकी निवृत्तिके लिये भी लौकिक शुद्धि-सम्पादक स्मार्त प्रायश्चित्त किसी बहानेसे हरिनाम-निष्ठको भी करना चाहिये, अन्यथा प्रबलदण्डका भय न होनेके कारण पुनः पापकर्मोंमें प्रवृत्ति हो जायेगी। ऐसी दशामें नामके बलपर निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति होना, यह भगवन्नाम-अपराध होगा। इससे हरिनामकी पापनाशक शक्ति कुण्ठित हो जानेसे हरिनाम उच्चारण करनेपर भी मुक्ति न होगी। इस लौकिक-अलौकिक शुद्धिमें उपयोगी होनेसे हरिनाम तथा स्मार्त-व्रत-तपादि प्रायश्चित्त दोनों ही पापनाशक हैं, अतः दोनोंकी सार्थकता है, किसीकी भी व्यर्थता नहीं।

टिप्पणी—मद्य-मांस आदि अभक्ष्यभक्षण-जन्य रस रक्त मांस मेद आदि धातुओंकी शुद्धि तो उसके अनुरूप पञ्चगव्यपान, निराहाररूप व्रत-अनुष्ठान आदि स्मार्त प्रायश्चित्तोंके बिना हो ही नहीं सकती; क्योंकि हरिनाम केवल अत्यन्त पापनाशक ही है, धातुगत अशुद्धिनाशक नहीं। अतः स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ नहीं है, यथायोग्य अनुष्ठेय है।

विश्वास और अनुभव

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

बहुत सरल और सुगम बातें हैं; एक है श्रद्धाकी और एक है अनुभवकी। श्रद्धाकी बात यह है कि परमात्मा सब जगह है; 'है' ज्यों-का-त्यों ही रहता है, कभी बदलता ही नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। और, अनुभवकी बात यह है कि सब संसार परिवर्तनशील है, यह प्रतिक्षण बदल रहा है तथा प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। ये दो बातें हुईं— परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं, जो कि नित्य प्राप्त हैं। जो परिवर्तनशील नहीं है, वह 'है' तत्त्व है। वह सब जगह, सब देश, सब काल, सब वस्तु, सब प्राणियोंमें है। वह सबको प्राप्त है, इसलिये वह तो हुआ 'प्राप्त', उस प्राप्तकी तरफ दृष्टि न हो, यह बात अलग है, पर वह तत्त्व अप्राप्त नहीं है; क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण है और सबको मिला हुआ है। उस 'है'-का अभाव कैसे होगा? जो भावरूप है, वह मिला हुआ है, प्राप्त है, केवल दृष्टि उधर नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है, दृष्टि न करो तो भी वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानो तो वही है, न जानो तो भी वही है। 'है' तो 'है' ही है—'है' तो सुन्दर है सदा। जो 'है' वह प्राप्त है—यह विश्वास करना होगा। फिर वह दीख जायगा और उसका अनुभव हो जायगा। यह है विश्वासकी बात।

अब अनुभवकी बात यह है कि संसार परिवर्तनशील है, अनित्य है, बदलता है, वह केवल प्रतीत तो हो रहा है, परन्तु वह रहा है। मनुष्य समझता है कि अमुक आदमीको धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल गया, यह मिल गया, वह मिल गया, परन्तु वास्तवमें मिला कुछ नहीं। वह सब बह रहा है, वह प्राप्त नहीं हुआ है। यदि मिल जाता तो और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। यही मिलनेकी पहचान है। जबतक मिलनेकी, पानेकी, इच्छा है तबतक वास्तविक चीज नहीं मिली है। गीता कहती है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६।२२)—जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ है—ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जबतक और लाभ मिले, और धन मिले, और मान मिले, और स्वास्थ्य मिले, और कोई संयोग मिले—ऐसी इच्छा भीतर है, तबतक आपको असली वस्तु मिली नहीं है—यह पक्की बात है। वह मिल जानेपर फिर मिले, यह इच्छा सदाके लिये शान्त हो जाती है। कोई कामना बाकी नहीं रहती। जो दीखता है, वह मिला नहीं है और वह मिलता नहीं है; क्योंकि वास्तवमें कुछ हो तब तो मिले! परन्तु मनुष्योंके अन्तःकरणमें प्रतीतिका जितना आदर है, उतना प्राप्तका आदर नहीं है—यह है उसकी समस्या।

इस समस्याका हल क्या है। जो प्राप्त है, इसपर दृढ़तासे विश्वास करना कि वह हमें प्राप्त है। उसमें भी हमें तो इतना अनुभव है ही कि मैं तो सदासे हूँ, सदा रहूँगा। बालकपनमें जो मैं था, वही आज मैं हूँ। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियाँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, घटनाएँ बदलीं, क्रियाएँ बदलीं—ये सब बदलीं; परन्तु 'मैं' तो वही हूँ, जो पहले था, वही आज मैं हूँ। वेदान्त-दर्शनमात्रमें स्वरूपकी नित्यताके लिये यह प्रबल युक्ति है कि 'हैं वही हूँ'।

कोई दो आदमी पहले मिले थे, उनमें एक बड़ी अवस्थामें था और एक छोटी अवस्थामें था। आठ-दस

वर्षोंके बाद दोनों फिर मिले तो छोटी अवस्थावाला मनुष्य पूछता है—'बाबाजी ! आप मुझे जानते हो ?' बड़ी अवस्थावाला उत्तर देता है—भैया ! मैं तो नहीं जानता, तुम जानते हो क्या ? छोटी अवस्थावालेने कहा—'मैं तो आपको पहचानता हूँ । देखो ! अमुक समयमें हम दोनों मिले थे और हम दोनोंमें अमुक-अमुक बातें हुई थीं । मुझमें ज्यादा परिवर्तन होनेसे आप नहीं पहचान सके ।' बड़ी आयुवाला 'हाँ' भरता है—'अच्छा, वही हो तुम !' छोटी आयुवालेने कहा—'हाँ, मैं वही हूँ' । बड़ी अवस्थावाला भी स्वीकार करता है—'ठीक है भैया ! मैं भी वही हूँ ।' छोटी आयुवाला पूछता है—'आपका क्या ढंग है ? 'आजकल कैसी परिस्थिति है ?' बड़ी आयुवाला उत्तर देता है कि 'आजकल तो बड़ी तकलीफमें हूँ, आफत आयी हुई है और पैदा है नहीं ।' बड़ी आयुवाला पूछता है—'तुम्हारा क्या हाल-चाल है ?' छोटी आयुवाला कहता है—'हम तो मौजमें हैं, काम-धन्धा बहुत अच्छा है ।'

इन दोनोंकी बातोंपर विचार करें । जैसे इन दोनोंकी अवस्थाएँ बदलीं, परिस्थितियाँ बदलीं, पर वे दोनों वे ही हैं । उनकी परिस्थितियोंमें महान् अन्तर है । अवस्था उनके साथ नहीं रही, परिस्थिति उनके साथ नहीं रही, पर वे दोनों वे ही रहे तो वे परिस्थिति, अवस्था, क्रिया, घटनासे अलग हैं । ऐसे ही आप स्वयं इन सबसे अलग हो । ये सब बदलनेवाले हैं, प्रतीतिमात्र हैं । ये दीखते हैं, पर बदलते रहते हैं । इनको सच्चा और स्थायी माननेसे ही अनर्थ हुए हैं और सारे अनर्थ हो रहे हैं ।

प्रतीति सच्ची है अथवा झूठी, अथवा दोनोंसे विलक्षण है । इस विषयमें मतभेद है, परन्तु यह रहती नहीं, बदलती है—इसमें कोई मतभेद नहीं है । इस प्रतीतिको सच्ची भी कैसे कहा जाय; क्योंकि इसको 'है' कहा जाय तो यह रहनी चाहिये, पर यह रहती नहीं । और झूठी भी कैसे कहा जाय; क्योंकि यह प्रतीत होती है । इसलिये वेदान्तने इसको 'अनिर्वचनीय' कहा है । तात्पर्य है कि इसको सत् भी नहीं कह सकते, असत् भी नहीं कह सकते और सत् और असत्—दोनों भी नहीं कह सकते । यह इससे भी विलक्षण है, इसलिये इसको 'अनिर्वचनीय' कहा है यानी इसका विवेचन नहीं किया जा सकता ।

अब कहते हैं कि जो दीखता ही नहीं, हम उसको प्राप्त कैसे मानें ? उपनिषदोंमें एक वाक्य आता है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?'** जो सबको जाननेवाला है, उसको किससे जानें ? जैसे आँखसे सब कुछ दीखता है, पर आँख दीखती नहीं । दर्पणमें आँखकी आकृतिको भले ही देख लो; परंतु नेत्रेन्द्रिय (आँख) नहीं दीखती अर्थात् जो देखनेकी शक्ति है, वह नहीं दीखती । फिर भी यह मानते हैं कि इसमें एक देखनेकी शक्ति है, जिससे दीखता है । अगर देखनेकी शक्ति न हो तो यह दीखनेवाला कैसे दीखता ? ऐसे ही यह 'प्रतीति' जिससे प्रतीति होती है, जो इस प्रतीतिको जाननेवाला है, वह सदा ही है । वह ही प्राप्त है । अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती ? यह प्रतीति परिवर्तनशील है और जो इसे देखता है, वह है द्रष्टा—देखनेवाला । उस देखनेवालेको ईश्वर कह दो, जीवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो—ये उसको कहनेके कई नाम हैं, पर वह एक ही तत्त्व है ।

राजा जनकके यहाँ नौ योगेश्वर आये । राजा जनकने उनके सामने जाकर उनको प्रणाम किया और कहा—'मैं आज निहाल हो गया ।' वे निहाल इसलिये हुए कि उनको सच्ची बात बतानेवाले सन्त मिल गये । वे रहनेवाले तत्त्वको बता देंगे, इसलिये जनक निहाल हो गये । वे रहनेवालेको बताकर क्या निहाल करेंगे, क्योंकि वह तो प्राप्त है ही । उसे बताओ तो, और न

बताओ तो, प्राप्त हुआ तो है ही। परन्तु प्राप्त होता हुआ भी वह परमात्मा हमारे क्या काम आया? जबतक हमें उस परमात्माका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक वह परमात्मा प्राप्त होते हुए भी हमारे काम नहीं आवेगा। सन्तोंसे सुने बिना हमारा उस परमात्मापर विश्वास नहीं होता, उसे माना नहीं जाता। इसीलिये मैंने कहा कि परमात्मा सब जगह है—इस बातपर श्रद्धाकर विश्वास करो।

अभी मैंने बताया कि जिससे प्रतीति होती है, वह 'है' है। उस 'है' को माननेसे, उस 'है' पर विश्वास करनेसे ही लाभ होगा। उसको नहीं माननेसे लाभ नहीं होगा। बिना माने प्राप्त होते हुए भी आपको फायदा नहीं होगा। जैसे, किसीकी गाय बीमार हो गयी तो उसके मालिकने वैद्यके यहाँ जाकर कहा कि 'मेरी यह गाय बीमार हो गयी है।' वैद्यने कहा कि 'आप गायको आध पाव पीसी हुई काली मिर्च देना और उसपर पावभर घी दे देना।' उसने गायको आध पाव पीसकर काली मिर्च तो दे दी, पर घी नहीं दिया। उसने सोचा कि मैंने आज गायको दुहा ही नहीं, तो रोज जो पावभर घी निकलता है, वह गायका घी तो गायमें है ही। इससे गाय ज्यादा बीमार हो गयी। दूसरे दिन वैद्यजीके यहाँ गया और बोला—'गाय तो ज्यादा बीमार हो गयी!' वैद्यने पूछा—'काली मिर्च और घी दिया था?' तो उत्तर दिया—'हाँ साहब, काली मिर्च तो दे दी थी और घी गायमें था ही। दूध निकाला नहीं, घी तो गायके पावभर हर रोज होता ही है।' तो गायको न दुहनेसे और काली मिर्च देनेसे गरमी ज्यादा बढ़ गयी, पर उसमें घी होते हुए भी घी काम नहीं आया। घी निकालकर दे दें तो काम आ जाय।

इसी तरह वह 'है' तत्त्व हमें प्राप्त होते हुए भी हमें उसका अनुभव नहीं है तो वह हमारे कुछ काम नहीं आयेगा। इस वास्ते हमें तो उस तत्त्वका अनुभव करना है। हम सब उस प्राप्त तत्त्वकी अनुभूतिके लिये ही तो यहाँ इकट्ठे हुए हैं। जो प्राप्त है, उसका अनुभव नहीं हो रहा है। प्राप्त है—ऐसा माननेसे चटपटी लगे, उत्कण्ठा होगी तब अनुभव होगा। वह प्राप्त है, सदा है, सब जगह है; परंतु मुझे अनुभूति क्यों नहीं हो रही है? ऐसी लगन लगनेसे ही लाभ होगा। नहीं तो बातें बनाते रहो, कुछ हाथ नहीं लगेगा। मेरी तरह आप भी व्याख्यान दे दोगे, परंतु जै रामजीकी! मिलना कुछ नहीं है। इसलिये कहा जा रहा है कि आप उससे वञ्चित क्यों रहते हो? बच्चेको मालूम हो जाय कि माँ यहाँ है तो वह रोने लग जायगा। माँ है तो मुझे गोदमें क्यों नहीं लेती? यह कहना इसलिये है कि इसपर विश्वास होनेसे आपको उसे जाननेकी चटपटी लगे।

प्राप्तकी प्राप्ति (अनुभूति) करनी है। प्राप्त कहनेकी सार्थकता उसकी अनुभूतिके लिये लगन लग जानेमें है, न कि झूठा सन्तोष करनेके लिये। उस लगनके लिये प्रतीतिको सच्चा न मानना तथा उससे सुख लेनेकी इच्छाका न रहना आवश्यक है। प्रतीतिको सच्चा न माननेसे प्राप्तकी अनुभूति होगी—यह है चाभी। प्रतीतिको नित्य सुखदायी माननेसे कभी उस तत्त्वकी अनुभूति नहीं होगी। भले ही कितने ही ग्रन्थ पढ़ जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, छः शास्त्र पढ़ जाओ, पर जबतक प्रतीतिको सच्चा मानते रहोगे, तबतक उद्धार नहीं होगा। नरकों और चौरासी लाख योनियोंमें जानेसे कोई रोकनेवाला नहीं है। मकान, धन, कुटुम्ब आदि जिन प्रतीतियोंको सच्ची मानकर जो उसमें सुख लेकर फँसे हुए हैं, उनको पापोंसे, पतनसे कोई बचा नहीं सकता।'

कहते हैं कि प्रतीति तो रहनेवाली नहीं है, फिर भी वह हमें आकर्षित क्यों करती है? प्रतीतिको आप

प्रतीति न मानकर नित्य मानते हो, इस वास्ते उधर खिंचते हो। अगर वह केवल प्रतीति ही होती तो उसको प्राप्त करनेका भाव ही नहीं होता। जैसे सिनेमामें पर्देपर बढ़िया भोजन दीखनेपर खानेकी प्रवृत्ति होती है क्या? दर्पणमें मुख दीखनेपर उसको पकड़नेकी प्रवृत्ति होती है क्या? क्यों नहीं होती? अगर कभी मनमें आ भी जाय तो भी भीतरमें यह जानकारी रहती है कि इससे मिलेगा कुछ नहीं। ऐसे ही हमें यह जँच जाय कि संसारमें धन, मान कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि जितनी भी प्रतीतियाँ हैं, ये सच्ची नहीं हैं और इनमें हमें मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि आज दिन इनसे किसीको कुछ नहीं मिला है तो हमको क्या मिलनेवाला है?

इनसे इनको कुछ मिला, उनको कुछ मिला—ऐसा भले ही आप मान लो, पर है यह कोरा वहम। संसार कहते ही उसको हैं, जो प्रतिक्षण जा रहा है—**'सम्यक् प्रकारेण सरति'**। इसलिये संसारसे मिलना कुछ नहीं है। 'प्राप्त' तो परमात्म-तत्त्व ही है; परंतु उसकी अनुभूति इस 'प्रतीति'से विमुख होनेपर ही होगी। नहीं तो कोरी बात रह जायगी।

नारायण! नारायण! नारायण!

सन्त-वचनावली

(साकेतवासी सन्त स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज)

[साकेतवासी संतशिरोमणि स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज अवधके प्रसिद्ध संत हुए, उनकी वाणीका आज भी अयोध्याका संत-समाज बड़ी श्रद्धासे मनन करता है, तथा इसका एक कण भी जीवनमें आचरित होनेपर स्वयंको धन्य मानता है। उनकी वाणीके कुछ अंश यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं, जिसके मनन-अनुशीलनसे पाठकगण लाभान्वित हो सकेंगे।—सं०]

श्रीनारद मुनीश अंगिरा ऋषिके साथ सब तीर्थोंकी प्रदक्षिणा करते-करते एक हाटमें बैठ गये। देखते क्या हैं कि उसी नगरके हाटमें एक बकराको कसाई लेकर चला जा रहा है। बकरेने छूटकर एक दूकानसे थोड़ा दाना मुँहमें डाल लिया। बनियाने उसको पकड़कर मारा और दाना भी छीन लिया, फिर कसाईको दे दिया। यह चरित्र देखकर श्रीनारदजीने दुःखके साथ साँसें लीं। इसको देखकर अंगिराजीने कहा—'महाराज! आप तो आनन्दरूप हो, खेद क्यों?' नारदजी बोले—'संसारकी रीति देखकर मन दुखी हुआ। यह बकरा इस बनियेका बाप है; दूकान भी इसीने खोली थी। उसी सम्बन्धसे अभ्यासवश दाना ले लिया था जिसकी यह गति हुई। बड़ी मेहनतसे पीर-फकीर मनानेपर यह लड़का उत्पन्न हुआ था। वही बापको दाना लेने नहीं देता। देखो, मनुष्य वृथा धन्धेमें पचते हैं, जिसमें सुख रंचक नहीं। ऐसा नहीं करे तो दुःख-समुद्रसे तर जाते। इस संसारमें अपना कौन है?

तीन लक्षण जिज्ञासुओंके उत्तम हैं—सहनशीलता भूमिकी तरह, उदारता नदीकी तरह, दयालुता मेघकी तरह। तीनों हों तब प्रभुके मिलने योग्य हो। सहनशीलता, उदारता, दयालुता—ये तीनों प्रभुसे मिलनेकी योग्यता देती हैं।

पाँच प्रकारसे जीवोंकी आयु चली जाती है—कुमतिका कहना करना, उदरंभरी होना, सुषुप्ति (निद्रामें बहुत सोवना), कामादिकके साथ प्रीति करना एवं परनिन्दा तथा लड़ाई-झगड़ेमें डूबे रहकर असत्य वचनमें मनको लगाये रहना। यह तामसी मनुष्यकी रीति है। राजसी मनुष्यकी आयु यों चली

जाती है—मोहादिकोंका दास बने रहना, विषयोंकी प्रीति हृदयमें प्रबल होना, मान-प्रभुताकी चाह रखना, उदर भरनेकी चिन्ता करना, वाद-विवादमें लगे रहना, मायाके बन्धनमें सदा पड़ते रहना। सात्त्विक मनुष्योंकी आयु यों चली जाती है—जप, तप, व्रत, दानादि शुभ कर्म सदा कामना-समेत करना। शुद्ध सात्त्विक मनुष्योंकी आयु यों चली जाती है—सन्तोंके वचनानुसार मनको ले चलना, प्रभु-प्राप्तिमें उत्साह, स्नेह रखना, स्वर्गादि तीनों लोकोंकी विभूतिकी इच्छा न रखना, श्रीरामरूप एवं नामादिमें छककर रोना, हँसना, कभी पछतावा करके रोना, कभी श्रीराम-ध्यानमें मग्न हो जाना, कभी प्रभु-यश कहना-सुनना—इसी रसमें मन रखना; पाँचवाँ जीवनमुक्त पुरुषोंकी आयु यों बीती जाती है—वे श्रीरामकी चाहमें अपनी चाह लीन कर देते हैं, उनकी इच्छामें उन्हें खुशी होती है। वे अपनी रुचितक त्याग देते हैं, सहज आनन्दके हिंडोलेपर चढ़कर दिन-रात झूला करते हैं, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, कञ्चन-माटी सम समझते हैं। इसी मौजमें मस्त—मग्न रहते हैं।

× × ×

मन तो गोबरौरा है, जो मलकी गोली बनाता है और उसे दिन-रात ढोये फिरता है। दूसरा उसके लेनेके लिये लड़ाई करता है। तीसरा बलसे लड़कर ले लेता है। दोनों रोते रह जाते हैं। ऐसे ही मिथ्या पदार्थ राज्यादिकोंके लिये राजा लोग आपसमें युद्ध करते हैं। पर उस पदार्थको यथासमय और ही भोगता है। मतिमान् सुजान प्रभुको छोड़कर अन्य कुछ नहीं चाहे।

सब साधन-सुकृतका फल यह है कि सन्तोंके हृदयमें अपना हृदय मिला दिया जाय। तात्पर्य यह है कि उनके समान हृदयमें अच्छाई आ जाय। निर्मोही हो जाय और प्रभुरंगमें रंग जाय—ऐसा रंगना कि दूसरा रंग कभी चढ़ने ही न पावे।

नरक, रोग, मौत—किसीका भय न करे। केवल क्षण-क्षणमें परमेश्वरसे डरे। भयसे प्रीति होगी, तब परमेश्वरकी कृपासे कोई दुःख नहीं व्याप सकेगा। जैसे प्रह्लादजीको अग्नि, जल, सर्प, दैत्य-दानव—कोई दुःख न दे सका, सब थक गये; अन्तमें श्रीनृसिंहजीने प्रकट होकर दुष्टोंको मार दिया और प्रह्लादको परमानन्द दे दिया। ऐसे ही जो सच्ची प्रीति करते हैं उनके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, दास हो जाते हैं। प्रीति करके परीक्षा कर लीजिये, असंशय है।

मनुष्य-देहका जो प्रयोजन रखा है वह अविनाशी परमेश्वर-प्राप्तिरूप है। ऐसे क्षणभंगुर शरीरमें गुरुमुख अविनाशी कार्य कर लेते हैं। और मनुष्य विषयानन्दमें भूलकर विनाशी काज करते हैं, नाना दुःख पाते हैं; कहाँतक लिखें; इससे सावधानता ही सार है।

किसी भेड़ चरानेवालेने लाल पाया। उसको पाषाण जानकर सेरभर जलेबीपर हलवाईके हाथ बेंचकर भागा जा रहा था। किसीने कहा—'काहे दौड़ता है?' उसने कहा—'एक पथरा देकर हलवाईसे मिठाई ठगा है। उसी डरसे भागा जाता हूँ कि कहीं पकड़ न ले।' ऐसे ही मनुष्य-जन्मको तुच्छ विषयोंपर बेंचकर मानव अपने-आपको बड़भागी मानते हैं, जो मायासे ठगा हुआ अपने-आपको मानते तो छूटनेका उपाय होता। पर वे कृतार्थ उसीसे मानते हैं—जैसे भेड़ चरानेवाला लाल देकर हलवाईको ही ठगा गया समझ रहा था।

ये दस सकार मोक्षप्रद हैं—सत्य, सन्तोष, सेवा, सुमिरन, सुमति, साधुसंग, समता, सहनशीलता, स्तुति परमेश्वरकी, शब्द सद्गुरुका। इन दसमें जो समर्थ है वही मोक्ष प्राप्त करेगा, दृढ़ता चाहिये।

पाँच पदार्थ जगत्में दुर्लभ हैं—सुमति, सद्, उपदेशवाला मित्र, प्रभु-धर्म-शिक्षक, माता-पिता और नीतिमान् राजा।

जीव जो अपनी आयु वृथा बिताते हैं सो आयुष्यका माहात्म्य नहीं जानते । जब यम-किङ्कर लेने आयेंगे तब समझ पड़ेगा और संकटमें पड़ जानेपर कहेंगे—'एक दिनके लिये हमको छोड़ जाओ, हम अपना भला कर लेंवे ।' तब धर्मदूत कहेंगे—'रे मूर्ख ! हजारों दिनमें तूने अपना भला न किया संसारमें फँसकर; अब क्या करेगा? अब तो एक क्षण भी रहने न पायेगा । तेरा हुक्म मानें कि अपने मालिकका ।' यह सुनकर जीव रोयेगा—'हाय ! ऐसा अमोलक जन्म-चिन्तामणि एवं खाँसको हँसने-खेलनेमें गँवाया ! क्या किया !!



बच्चोंकी सरल दयालुता

(१)

लगभग नौ सौ वर्ष पहलेकी बात है, राजा भीमदेव गुजरातमें राज करते थे । उनके एक लड़का था, नाम था मूलराज । लड़का होनहार था और था बड़ा दयालु । एक साल गुजरातमें बरसात नहीं हुई । खेत सूख गये । एक गाँवके लोग राजाको लगान नहीं दे सके । राजाके सिपाहियोंने गाँवमें जाकर उन लोगोंके घरमें जो कुछ था, सब जप्त करके ले लिया और उनको भी साथ लाकर हाजिर किया । राजकुमार मूलराज पास ही खेल रहा था । किसान बेचारे दुखी थे और आपसमें अपनी बुरी हालतकी चर्चा कर रहे थे । राजकुमारने उनकी सारी बातें सुनीं । उनका दुःख जानकर मूलराजकी आँखोंसे आँसू बहने लगे । मूलराजने उनका दुःख दूर करनेका निश्चय किया ।

उन दिनों राजकुमार घुड़सवारीकी कला सीख रहा था । राजाने कहा था—'तुम अच्छी तरह सीख लोगे, तब तुम्हें इनाम दिया जायगा ।' मूलराजने अभ्यास करके घुड़सवारीकी कला सीख ली थी । आज पिताको अपनी कला दिखायी । राजाने प्रसन्न होकर कहा—'बेटा ! मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ; बोलो, क्या इनाम चाहते हो ?' मूलराजने कहा—'पिताजी ! इन बेचारे गरीबोंकी जप्त की हुई चीजें वापस लौटा दीजिये और इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दीजिये ।'

मूलराजकी बात सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उनकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये । फिर उन्होंने कहा—'बेटा ! तूने अपने लिये तो कुछ नहीं माँगा, कुछ तो माँग ।' इसपर मूलराज बोला—'पिताजी ! आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह दीजिये कि अब अगर किसी साल फसल न हो तो उस साल लगान वसूल ही न किया जाय, ऐसा नियम बना दें । इससे मेरी आत्माको बड़ा सुख होगा ।'

राजाने ऐसा ही किया, किसानोंकी जप्त की हुई चीजें लौटा दीं और आइंदेके लिये फसल न होनेके वर्षका लगान न लेनेका नियम बना दिया । किसान खुशी-खुशी आशीष देते हुए अपने घरोंको लौट गये ।

(२)

एक बड़े देशकी रानीको बच्चोंपर बड़ा प्रेम था । अनाथ बालकोंको अपने खर्चसे पालती-पोसती । उसने यह हुक्म दे रक्खा था कि 'कोई भी अनाथ बालक मिले, उसे तुरंत मेरे पास पहुँचाया जाय ।'

एक दिन सिपाहियोंको रास्तेमें एक छोटा बच्चा मिला । उन्होंने उसे लाकर रानीके हाथोंमें सौंप दिया । रानी सहज स्नेहसे उसे पालने लगी ।

बच्चा जब पाँच सालका हो गया तब उसे पढ़नेके लिये गुरुजीके यहाँ भेजा । वह मन लगाकर पढ़ने

लगा। लड़का था बड़ा सुन्दर और साथ ही अच्छे गुणोंवाला एवं बुद्धिमान् भी। इससे रानीकी ममता उसपर बढ़ने लगी और वह उसे अपने पेटके बच्चेकी तरह प्यार करने लगी। बच्चा भी उसे अपनी माँके समान ही समझता था।

एक दिन वह जब पाठशालासे लौटा तो बहुत उदास था। रानीने उसे अपनी गोदमें बैठा लिया और प्यारसे गालोंपर हाथ फेरकर उदासीका कारण पूछा। बच्चा रो पड़ा। रानीने अपने आँचलसे उसके आँसू पोंछकर और मुँह चूमकर बड़े स्नेहसे कहा—'बेटा! तू रो क्यों रहा है?' बच्चेने कहा—'माँ! आज दिनभर पाठशालामें मेरा रोते ही बीता है। मेरे गुरुजी मर गये। मेरी गुरुवानीजी और उनके बच्चे रो रहे थे। मैंने उनको रोते देखा। वे कह रहे थे कि हमलोग एकदम गरीब हैं, हमारे पास गुजरानके लिये कुछ भी नहीं है और न कोई ऐसे प्यारे-पड़ोसी ही हैं, जो हमारी मदद करें।' माँ! उनको रोते देखकर और उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा ही दुःख हो रहा है। तुझे उनकी परवरिशके लिये कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा।

बालककी बातें सुनकर रानीका कलेजा दयासे भर आया। उसने तुरंत नौकरको पता लगाने भेजा और बच्चेका मुँह चूमकर कहा—'बेटा! नन्हीं-सी उम्रमें तेरी ऐसी अच्छी बुद्धि और अच्छी भावना देखकर मुझे बड़ी ही खुशी हुई। तेरी गुरुवानीजी और उनके बच्चोंके लिये मैं जरूर प्रबन्ध करूँगी। तू चिन्ता मत कर।'

रानीके भेजे हुए आदमीने लौटकर बताया कि 'बात बिल्कुल सच्ची है।' रानीने बच्चेको पाँच सौ रुपये देकर गुरुवानीके पास भेजा और फिर कुछ ही दिनोंमें, उनके कुटुम्बका अच्छी तरह गुजारा चल सके और लड़के पढ़ सकें, इसका पूरा प्रबन्ध करवा दिया।

श्रीरामरक्षास्तोत्रका महत्त्व

'श्रीरामरक्षास्तोत्र' एक मनोवैज्ञानिक ओषधि है। इसमें वे सब भव्य विचार भरे पड़े हैं जिससे मानसिक रोग दूर होते हैं और अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है।

जब आप बेहद घबरा रहे हों, परेशानी मारे डालती हो, जीना न चाहते हों, घोर अशान्ति और घृणामेंसे गुजर रहे हों, जीवन नीरस और दुःखी मालूम होता हो, संसार कपटी, निर्दयी और पाखंडी प्रतीत होता हो तो आप रामरक्षास्तोत्रका पाठकर सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्तिसे जरूर लाभ उठायें। धन-बल, विद्याबल और बुद्धिबलसे भी अधिक बलवान् यह मन्त्र है। इससे कुसंस्कार दूर होकर शुभ संस्कार जगते हैं और आशाकी किरणें फूट निकलती हैं। हजारों व्यक्ति रामरक्षास्तोत्रसे मृत्यु, परेशानी, पागलपन और आत्महत्या-जैसे रोगोंसे बचे हैं। इससे शरीर रोगविहीन होता है, आरोग्यकी वृद्धि होती है, मस्तिष्क तथा ज्ञानतन्तु पुष्ट होते हैं, स्मरणशक्ति तीव्र होती है, रक्तचाप (ब्लडप्रेसर) और हृदय-रोग मूलसे दूर हो जाते हैं। हमारे मानसिक स्वास्थ्य और संतुलनके लिये इसका प्रतिदिन पाठ किया जाय तो गुणकारी है। प्रत्येकको पूजाके साथ प्रतिदिन इसका अभ्यास करना चाहिये। (अनुष्ठानके लिये रोज ग्यारह पाठ हों तो उत्तम है।)

गीताका कर्मयोग—६६

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क ११, पृष्ठ-संख्या ८९६ से आगे]

सम्बन्ध—*यज्ञोंका वर्णन सुनकर ऐसी जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है ? इसका समाधान भगवान् अगले श्लोकमें करते हैं ।*

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

भावार्थ—जिन यज्ञोंमें द्रव्यों (पदार्थों) और कर्मोंकी मुख्यता होती है, उन सब यज्ञोंसे विवेक-विचारकी प्रधानतावाला ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है । शास्त्रोंमें गुरुके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करनेकी जो विधि आती है, उसे यहाँ ज्ञानयज्ञ कहा गया है । इस ज्ञानयज्ञमें द्रव्यों (पदार्थों) और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है ।

अन्वय—**परंतप, पार्थ, द्रव्यमयात्, यज्ञात्, ज्ञानयज्ञः, श्रेयान्, सर्वम्, कर्म, अखिलम्, ज्ञाने, परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥**

पद-व्याख्या—**परंतप पार्थ**—हे शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन !

द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्—द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ।

जिन यज्ञोंमें द्रव्यों (पदार्थों) तथा कर्मोंकी आवश्यकता होती है, वे सब यज्ञ 'द्रव्यमय' होते हैं । 'द्रव्य' शब्दके साथ 'मय' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें है । जैसे मिट्टीकी प्रधानतावाला पात्र 'मृन्मय' कहलाता है, वैसे ही द्रव्यकी प्रधानतावाला यज्ञ 'द्रव्यमय' कहलाता है । ऐसे द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानयज्ञमें द्रव्य और कर्मकी आवश्यकता नहीं होती ।

सभी यज्ञोंको भगवान्‌ने कर्मजन्य कहा है (४ । ३२) । यहाँ भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म ज्ञानयज्ञमें परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञ कर्मजन्य नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारजन्य है । अतः यहाँ जिस ज्ञानयज्ञकी बात आयी है, वह पूर्ववर्णित चौदह यज्ञोंके अन्तर्गत आये ज्ञानयज्ञ-(४ । २८) का वाचक नहीं है, प्रत्युत अगले (चौंतीसवें) श्लोकमें वर्णित ज्ञान प्राप्त करनेकी शास्त्रीय प्रक्रियाका वाचक है । पूर्ववर्णित चौदह यज्ञोंका वाचक यहाँ 'द्रव्यमय यज्ञ' है । द्रव्यमय यज्ञ समाप्त करके ही ज्ञानयज्ञ किया जाता है ।

यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानयज्ञ भी क्रिया-जन्य ही है, परंतु इसमें विवेक-विचारकी प्रधानता रहती है ।

सर्वम् कर्म अखिलम् ज्ञाने परिसमाप्यते—सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ ज्ञान-(ज्ञानयज्ञ-)में समाप्त हो जाते हैं ।

'सर्वम्' और **'अखिलम्'**—दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और उनका अर्थ 'सम्पूर्ण' होता है । इसलिये यहाँ **'सर्वम् कर्म'** का अर्थ सम्पूर्ण कर्म (कर्ममात्र) और **'अखिलम्'** का अर्थ सम्पूर्ण द्रव्य (पदार्थमात्र) लेना ही उचित प्रतीत होता है ।

जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसका सम्बन्ध क्रियाओं और पदार्थोंसे बना रहता है । जबतक क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध रहता है, तभीतक अन्तःकरणमें अशुद्धि रहती है, इसलिये अपने लिये कर्म न करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है ।

अन्तःकरणमें तीन दोष रहते हैं—मल (संचित पाप), विक्षेप (चित्तकी चञ्चलता) और आवरण (अज्ञान) । अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे अर्थात् संसारमात्रकी सेवाके लिये ही कर्म करनेसे जब साधकके अन्तःकरणमें स्थित मल और विक्षेप—दोनों दोष मिट

जाते हैं, तब वह ज्ञानप्राप्तिके द्वारा आवरण-दोषको मिटानेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे त्यागकर गुरुके पास जाता है। उस समय वह कर्मों और पदार्थोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् कर्म और पदार्थ उसके लक्ष्य नहीं रहते, अपितु एक चिन्मय तत्त्व ही उसका लक्ष्य रहता है। यही सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंका ज्ञानमें समाप्त होना है।

ज्ञानप्राप्तिकी शास्त्रीय प्रक्रिया

शास्त्रोंमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अन्तरङ्ग साधन कहे गये हैं—(१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) शमादि षट्सम्पत्ति (शम, दम, श्रद्धा, उपरति, तितिक्षा और समाधान), (४) मुमुक्षुता, (५) श्रवण, (६) मनन, (७) निदिध्यासन और (८) तत्त्वपदार्थ-संशोधन। इनमें पहला साधन विवेक है। सत् और असत्‌को अलग-अलग जानना 'विवेक' कहलाता है। सत्-असत्‌को अलग-अलग जानकर असत्‌का त्याग करना अथवा संसारसे विमुख होना 'वैराग्य' है। इसके बाद शमादि षट्सम्पत्ति आती है। मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना 'शम' है। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना 'दम' है। ईश्वर, शास्त्र आदिपर पूज्यभावपूर्वक प्रत्यक्षसे भी अधिक विश्वास करना 'श्रद्धा' है। वृत्तियोंका संसारकी ओरसे हट जाना 'उपरति' है। सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वोंको सहना, उनकी उपेक्षा करना 'तितिक्षा' है। अन्तःकरणमें शंकाओंका न रहना 'समाधान' है। इसके बाद चौथा साधन है—मुमुक्षुता। संसारसे छूटनेकी इच्छा 'मुमुक्षुता' है।

मुमुक्षुता जाग्रत् होनेके बाद साधक पदार्थों और कर्मोंको स्वरूपसे त्यागकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाता है। गुरुके पास निवास करते हुए शास्त्रोंको सुनकर तात्पर्यका निर्णय करना तथा उसे धारण करना 'श्रवण' है। श्रवणसे प्रमाणगत संशय दूर होता है। परमात्मतत्त्वका युक्ति-प्रयुक्तियोंसे चिन्तन करना 'मनन' है। मननसे प्रमेयगत संशय दूर होता है। संसारकी सत्ताको मानना और परमात्मतत्त्वकी सत्ताको न मानना विपरीत भावना कहलाती है। विपरीत भावनाको हटाना 'निदिध्यासन' है। प्राकृत पदार्थमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और केवल एक चिन्मयतत्त्व शेष रह जाय—यह 'तत्त्वपदार्थसंशोधन' है। इसे ही तत्त्व-साक्षात्कार कहते हैं। यह ज्ञानकी उच्चतम अवस्था है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो इन सब साधनोंका तात्पर्य है—असाधन अर्थात् असत्‌के सम्बन्धका त्याग। त्याज्य वस्तु अपने लिये नहीं होती, पर त्यागका परिणाम (तत्त्वसाक्षात्कार) अपने लिये होता है।

सम्बन्ध—अपना कल्याण चाहते हैं, अतः कल्याणप्राप्तिके विभिन्न साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन करके अब भगवान् ज्ञानयज्ञके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी उपनिषत्-कथित शास्त्रीय प्रणालीका वर्णन करते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

भावार्थ—अर्जुनको चेत करानेके लिये भगवान् उन्हें आज्ञा देते हैं कि यदि तू कर्मों और पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करके शास्त्रीय विधिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो इसके लिये तू तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जा। वे महापुरुष परमात्मतत्त्वका अनुभव कर चुके हों और वेदों तथा शास्त्रोंको भलीभाँति जाननेवाले हों। उन्हें विनम्रभावसे साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करनेसे अर्थात् उनके शरण होनेसे, उनकी सेवा तथा आज्ञा-पालन करनेसे, सरलभावसे केवल अपनी जिज्ञासा-पूर्तिके लिये उनसे प्रश्न करनेसे वे तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे।

अन्वय—**तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, सेवया, परिप्रश्नेन, तत्त्वदर्शिनः, ज्ञानिनः, ते, ज्ञानम्, उपदेक्ष्यन्ति॥ ३४॥**

पद-व्याख्या—**तत् विद्धि**—उस-(तत्त्वज्ञान-) को (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ ।

अर्जुनने पहले कहा था कि युद्धमें स्वजनोंको मारकर मैं कल्याण नहीं देखता—**'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'** (गीता १ । ३१); इन आततायियोंको मारनेसे तो पाप ही लगेगा— **'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः'** (गीता १ । १ । ३६)। युद्ध करनेकी अपेक्षा मैं भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ समझता हूँ—**'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (गीता २ । ५) । इस प्रकार अर्जुन अपने कल्याणके लिये युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका त्याग करना श्रेष्ठ मानते हैं; परन्तु भगवान्‌के मतानुसार ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्मोंका त्याग करना आवश्यक नहीं है (गीता ३ । २०; ४ । १५) । इसीलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि यदि तू कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान प्राप्त करनेको ही श्रेष्ठ मानता है, तो तू किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषके पास ही जाकर विधिपूर्वक ज्ञानको प्राप्त कर; मैं तुझे ऐसा उपदेश नहीं करूँगा ।

वास्तवमें यहाँ भगवान्‌का अभिप्राय अर्जुनको ज्ञानी महापुरुषके पास भेजनेका नहीं, अपितु उन्हें चेतानेका प्रतीत होता है । जैसे कोई महापुरुष किसीको उसके कल्याणकी बात कह रहा है, पर श्रद्धाकी कमीके कारण सुननेवालेको वह बात नहीं जँचती, तो वह महापुरुष उसे कह देता है कि तू किसी दूसरे महापुरुषके पास जाकर अपने कल्याणका उपाय पूछ; वैसे ही भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि यदि तुझे मेरी बात नहीं जँचती, तो तू किसी ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर शास्त्रीय प्रणालीसे ज्ञान प्राप्त कर । ज्ञान प्राप्त करनेकी शास्त्रीय (औपनिषद) प्रणाली है—कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके, जिज्ञासापूर्वक श्रोत्रीय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना ।*

आगे चलकर भगवान्‌ने अड़तीसवें श्लोकमें कहा है कि यही तत्त्वज्ञान तुझे अपना कर्तव्य-कर्म करते-करते (कर्मयोग सिद्ध होते ही) अन्य किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें प्राप्त हो जायगा । उसके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी आवश्यकता नहीं है । इसलिये भगवान् प्रस्तुत पद अर्जुनको चेत करानेके लिये ही कह रहे हैं ।

प्रणिपातेन—(उन्हें) साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करनेसे ।

ज्ञान-प्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करे । तात्पर्य यह कि नीच पुरुषके समान गुरुके पास रहे—

'नीचवत् सेवेत सद्‌गुरुम्', जिससे अपने शरीरसे गुरुका कभी निरादर, तिरस्कार न हो जाय । नम्रता, सरलता और जिज्ञासुभावसे उनके पास रहे और उनकी सेवा करे । अपने-आपको उनके समर्पित कर दे; उनके अधीन हो जाय । शरीर और वस्तुएँ—दोनों उनके

* आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः । समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्‌गुरुमात्मलब्धये ॥
(अध्यात्मरामायण, उत्तर० ५ । ७)

'सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन कर चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे; फिर शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्‌गुरुकी शरणमें जाय ।'

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।'

'उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये वह जिज्ञासु साधक हाथमें समिधा लिये हुए विनयपूर्वक वेदशास्त्रोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी गुरुके पास जाय ।'

अर्पित कर दे। साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणामसे अपना शरीर और सेवासे अपनी वस्तुएँ उनके अर्पित कर दे।

सेवया—(उनकी) सेवा करनेसे।

शरीर और वस्तुओंसे गुरुकी सेवा करे। जिससे वे प्रसन्न हों वैसा काम करे। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी हो तो अपने-आपको सर्वथा उनके अधीन कर दे। उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके अनुकूल काम करे। यही वास्तविक सेवा है।

सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना; कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतना अपना शरीर प्रिय नहीं होता। सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वे अपना शरीरतक सहर्ष त्याग देते हैं। इसलिये सच्चा सेवक उनके सिद्धान्तोंका दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

परिप्रश्नेन—(और) सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे।

केवल परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये, जिज्ञासुभावसे सरलता और विनम्रतापूर्वक गुरुसे प्रश्न करे। अपनी विद्वत्ता दिखानेके लिये अथवा उनकी परीक्षा करनेके लिये प्रश्न न करे।

मैं कौन हूँ ? संसार क्या है ? बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? परमात्मतत्त्वका अनुभव कैसे हो सकता है ? मेरे साधनमें क्या-क्या बाधाएँ हैं ? उन बाधाओंको कैसे दूर किया जाय ? तत्त्व समझमें क्यों नहीं आ रहा है ? आदि-आदि प्रश्न केवल अपने बोधके लिये (जैसे-जैसे जिज्ञासा हो, वैसे-वैसे) करे।

तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः—(वे) परमात्मतत्त्वके अनुभवी और वेदों तथा शास्त्रोंके ज्ञाता महापुरुष।

'तत्त्वदर्शिनः' पदका तात्पर्य यह है कि उस महापुरुषको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया हो; और **'ज्ञानिनः'** पदका तात्पर्य यह है कि उन्हें वेदों तथा शास्त्रोंका भलीभाँति ज्ञान हो, ऐसे तत्त्वदर्शी और ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्तःकरणकी सिद्धिके अनुसार ज्ञानके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम अधिकारीको श्रवणमात्रसे तत्त्वज्ञान हो जाता है*। मध्यम अधिकारीको श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे तत्त्वज्ञान होता है। कनिष्ठ अधिकारी तत्त्वको समझनेके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारकी शङ्काएँ किया करता है। उन शङ्काओंका समाधान करनेके लिये वेदों और शास्त्रोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि वहाँ केवल युक्तियोंसे तत्त्वको समझाया नहीं जा सकता। अतएव यदि गुरु तत्त्वदर्शी हो, पर ज्ञानी न हो तो वह शिष्यकी तरह-तरहकी शङ्काओंका समाधान नहीं कर सकेगा। यदि गुरु शास्त्रोंका ज्ञाता हो, पर तत्त्वदर्शी न हो तो उसकी बातें वैसी ठोस नहीं होंगी, जिससे श्रोताको ज्ञान हो जाय। वह बातें सुना सकता है, पुस्तकें पढ़ा सकता है, पर शिष्यको बोध नहीं करा सकता। इसलिये गुरुका तत्त्वदर्शी और ज्ञानी दोनों ही होना बहुत आवश्यक है।

ते ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति—तुझे (उस) तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे।

महापुरुषको दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करने और उनसे सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे तुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महापुरुषको इन सबकी अपेक्षा रहती है। वास्तवमें उन्हें प्रणाम, सेवा आदिकी किञ्चित् भी भूख नहीं होती। यह सब कहनेका भाव यह है कि जब साधक इस प्रकारकी जिज्ञासा करता और सरलतापूर्वक महा-

* उत्तम अधिकारी वही है, जिसमें तत्त्वप्राप्तिकी लगन हो, जिसे तत्त्वप्राप्तिमें भविष्य अच्छा न लगे अर्थात् जो वर्तमानमें ही तत्काल तत्त्वप्राप्ति करना चाहता हो।

पुरुषके पास जाकर रहता है, तब उस महापुरुषके अन्तःकरणमें उसके प्रति विशेष भाव उत्पन्न होते हैं, जिससे साधकको बहुत लाभ होता है। यदि साधक इस प्रकार उनके पास न रहे, तो ज्ञान मिलनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं कर पायेगा।

'ज्ञानम्' पद यहाँ तत्त्वज्ञान अथवा स्वरूप-बोधका वाचक है। वास्तवमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, अपितु संसारका होता है। संसारका ज्ञान होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

'उपदेक्ष्यन्ति' पदका यह तात्पर्य है कि महापुरुष ज्ञानका उपदेश तो देते हैं, पर उससे साधकको बोध हो ही जाय, ऐसा निश्चित नहीं है। आगे उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'**। कारण कि श्रद्धा अन्तःकरणकी वस्तु है; परन्तु प्रणाम, सेवा, प्रश्न आदि कपटपूर्वक भी किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ महापुरुषके द्वारा केवल ज्ञानका उपदेश देनेकी ही बात कही गयी है, और उन्तालीसवें श्लोकमें श्रद्धावान् साधकके द्वारा ज्ञानके प्राप्त होनेकी बात कही गयी है।

आदर्श डॉक्टर भक्त दुर्गादास

डॉक्टर दुर्गाचरण नाग महाशयका जन्म पूर्वबंगालमें नारायणगंजके पास देवभोग नामक एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। आपके पिताका नाम दीनदयालु और माताका नाम त्रिपुरासुन्दरी था। नाग महाशयकी माता उनको आठ वर्षका छोड़कर ही मर गयी थीं। तबसे उनकी बुआ भगवतीने इनका पालन-पोषण किया था। नाग महाशयके पिता कलकत्तेमें नमकके व्यापारी श्रीराजकुमार हरिचरणपाल चौधरी महोदयके यहाँ नौकरी करते थे। पिताके साथ नाग महाशय भी कलकत्ते आ गये और यहींपर इन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष 'कैम्बल मेडिकल स्कूल'में डॉक्टरी पढ़ी और फिर प्रसिद्ध होमियोपैथिक डॉक्टर भादुरी महाशयसे आपने होमियोपैथीकी शिक्षा ग्रहण की। लड़कपनसे ही नाग महाशयकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी। वे कलकत्तेमें अकेले काशीमित्र श्मशानघाटमें चले जाते और मुर्दोंको जलते देखकर जगत्‌की नश्वरतापर विचार करते। विभिन्न संन्यासियोंसे मिला करते तथा एकान्तमें ध्यान किया करते थे।

बुआके मरनेपर उनके मनमें बड़ा वैराग्य हुआ और भोगोंसे बड़ी ही निराशा हो गयी। वे रात-दिन विचार-मग्न रहने लगे। आखिर पिताके आग्रहसे उन्होंने डॉक्टरी शुरू की और कुछ ही दिनोंमें बहुत अच्छे डॉक्टर हो गये। परंतु अपने व्यवसायमें उनका बाह्या-डम्बर कुछ भी नहीं था। न वे कोट-पतलून पहनते थे, न गाड़ी-घोड़ेपर ही कहीं जाते थे। दूरसे बुलाहट आनेपर भी पैदल ही जाते। पिताने एक दिन यह समझकर कि डॉक्टरकी-सी पोशाक होनेसे लोगोंका विश्वास अधिक बढ़ेगा, पुत्रके लिये कोट-पतलून इत्यादि बनवाकर ला दिये। नाग महाशयने कहा—'पिताजी! मुझे पोशाककी आवश्यकता नहीं है। आप व्यर्थ ही ये कपड़े खरीदकर लाये, इन रुपयोंसे किसी गरीबकी सेवा की जाती तो बहुत उत्तम होता।'

इनकी विचित्र हालत थी। मुहल्लेमें कहाँ कौन बीमार है, किसके पास खानेको नहीं है, कौन दुःखी है—नाग महाशय इसीकी खोजमें रहते और अपनी

*

शक्तिके अनुसार सेवा करनेसे कभी न चूकते। गरीबोंसे दिखायीके रुपये (फीस) तो लेते ही नहीं, दवाके दाम भी नहीं लेते। पथ्यका खर्च भी अपने पाससे दे आते। रास्तेमें पड़ा कोई निराश्रय रोगी मिल जाता तो उसे अपने घर लाकर उसका इलाज करते।

एक दिन एक गरीब रोगीके घर जाकर आपने देखा कि उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है, तो स्वयं चार घंटे वहाँ ठहरकर उसको दवा देते रहे और सेवा करते रहे। रातको फिर उसे देखने गये। जाड़ेका मौसम, टूटी-फूटी झोंपड़ी और रोगीके बदनपर ओढ़नेको एक कपड़ा नहीं—यह देखकर नाग महोदयका हृदय पिघल गया। उन्होंने अपनी भागलपुरी ऊनी चद्दर उतारकर रोगीको ओढ़ा दी और धीरेसे निकल चले। सबेरे रोगीने कृतज्ञता प्रकट की, तब बोले 'आपको उस समय मुझसे अधिक जरूरत थी, इसलिये चद्दर आपको ओढ़ा दी थी, आप कोई विचार न करें।'

एक दिन एक रोगीके घर जाकर आपने देखा कि वह जमीनपर लेट रहा है। उसी समय घरसे अपने शयनकी चौकी मँगाकर उसपर रोगीको सुला दिया। रोगीको इससे आराम मिला। उसे आराम मिला देखकर नाग महाशयको बड़ी प्रसन्नता हुई। 'पर दुख दुखी सुखी पर सुख तें'—यह उनका व्रत था।

एक छोटे बच्चेको हैजा हो गया था। नाग महाशय दिनभर उसकी चिकित्सामें लगे रहे, परंतु बच्चा मर गया। घरवालोंने सोचा था आज दिनभरकी बहुत बड़ी फीस लेकर डॉक्टर साहब घर लौटेंगे। शामको देखा गया आप खाली हाथ रोते हुए घर लौटे और कहने लगे 'बेचारे गृहस्थके एक ही बच्चा था। किसी तरह बच नहीं सका। उसका घर सूना हो गया।' उस रातको इन्होंने जलतक ग्रहण नहीं किया।

नाग महाशयकी जैसी प्रसिद्धि हो गयी थी, उसमें वे चाहते तो बहुत धन कमा सकते थे, परंतु उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। किसीसे भी वे फीस चाहते नहीं, जो देता सो ले लेते। कोई उधार माँगने आता तो 'ना' नहीं करते। एक पैसातक पास होता तो वह भी दे डालते। किसी-किसी दिन स्वयं दो-एक पैसेका भूजा लेकर दिन काटते, घरमें रसोई नहीं बनती, परंतु गरीबको देनेमें अपनी दशाका विचार कभी नहीं करते। कपट, दम्भ, अधर्म और बनावटसे नाग महाशयको बड़ी घृणा थी। सभीमें वे भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करते।

नाग महाशयके घर कोई आ जाता तो उसे बिना खिलाये नहीं लौटने देते। नारायण मानकर अतिथिसेवा करते। एक दिन नाग महाशयके पेटमें शूलका दर्द हो रहा था। दर्दके मारे बीच-बीचमें बेहोश हो जाते थे। घरमें कुछ था नहीं। अकस्मात् आठ-दस अतिथि आ गये। उसी बीमारीमें आप बाजार गये चावल लेने। कुलीके सिरपर सामान रखकर न लानेका आपका नियम था। चावलकी गठरी सिरपर रखकर लाते समय रास्तेमें पेटका दर्द बढ़ गया। आप गिर पड़े और बोले, 'हाय! हाय! यह क्या हुआ? घरमें नारायण उपस्थित हैं, उनकी सेवामें देर हो रही है। धिक्कार है, इस हाड़-माँसके चोलेको, जो आज इससे नारायणकी सेवा नहीं हो रही है।' दर्द कुछ कम होनेपर घर आये और अतिथियोंको प्रणाम करके कहने लगे, 'मैं बड़ा अपराधी हूँ, आज आप लोगोंके भोजनमें बड़ा विलम्ब हो गया!'

वर्षाकालमें एक दिन नाग महाशयके घर दो अतिथि आ गये। बादल घिरे थे और झड़ी लगी हुई थी। नाग महाशयके मकानमें एक ही कमरा ऐसा था जिसमें पानी नहीं गिरता था; उसीमें नाग महाशय सोते थे। अतिथियोंको भोजन करानेके बाद आपने अपनी धर्मशीला पत्नीसे कहा—'आज हमलोगोंका परम सौभाग्य है, जो साक्षात् नारायण ही अपने घर पधारे हैं, क्या उनके लिये जरा-सा कष्ट नहीं सह लिया

जायगा ? आओ, हमलोग बाहर दीवालके नीचे बैठकर भगवान्का नाम लें और इनको अंदर सोने दें ।' कहना न होगा कि साध्वी पत्नीने पतिकी बातको बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया और अतिथियोंको यह बात मालूम भी नहीं होने पायी ।

नाग महाशय अपने लिये दूसरोंसे काम करवाना नहीं सह सकते थे, इसलिये वे कभी नौकर नहीं रखते थे । अतएव वे जब घर रहते, तब घरकी मरम्मत होना भी कठिन होता था । नाग महाशय जब बाहर जाते, तब पीछेसे उनकी पत्नी घरकी मरम्मत करवातीं । एक बार नाग महाशय बहुत दिनोंतक जन्मभूमिमें रहे । घरोंकी मरम्मत न होनेसे सब बेकाम हो गये । उनकी पत्नीने घर छानेके लिये एक थवई- (छानेवाला-)को नियुक्त किया । थवईके घरमें आते ही नाग महाशयको उसकी सेवाकी चिन्ता लगी । उसे आपने चिलम भर दी और हवा करने लगे । किसी तरह इनसे छूटकर वह बेचारा ऊपर चढ़कर छाने लगा । नाग महाशयने बार-बार नीचे उतर आनेकी प्रार्थना की। जब वह नहीं उतरा, तब इनसे नहीं रहा गया और वे रोकर कहने लगे—'हे भगवन् ! मेरे सुखके लिये दूसरे आदमीको इतना कष्ट हो रहा है और मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ, मुझको धिक्कार है ।' इनकी व्याकुलता देखकर बेचारा थवई नीचे उतर आया । नाग महाशयने प्रसन्न होकर उसके लिये एक चिलम भर दी और हवा करने लगे तथा थोड़ी देर बाद उसे दिनभरकी मजदूरी देकर विदा किया । परदुःखकातर नाग महाशयकी उदात्त भावना कितनी ऊँची थी ।

नाग महाशय कभी नावपर चढ़ते तो केवटको नाव नहीं खेने देते । उसकी लग्गी लेकर स्वयं नाव खेने लगते । बंगाली प्रायः मांस-मछली खानेमें कोई बुराई नहीं समझते, पर इनके लिये खाना तो दूर रहा, पशु-पक्षियोंका दुःख भी इनसे नहीं देखा जाता । कई बार इन्होंने मछली बेचनेवालोंसे मछलियाँ खरीदकर तालाबोंमें छुड़वायी थीं । एक दिन नारायणगंजके पाटके कारखानेके कुछ साहब पक्षियोंका शिकार करने देवभोग आये । बंदूककी आवाज सुनते ही नाग महाशय दौड़े और हाथ जोड़कर साहब लोगोंसे विनती करने लगे । साहबलोग इनकी बातको सुनी-अनसुनी करके फिरसे बंदूक चलानेकी तैयारी करने लगे, तब तो नाग महाशयने बड़े जोरसे डाँटकर उनकी बंदूकें छीन लीं । साहबोंने समझा, यह पागल है और वहाँसे लौटकर वे नाग महाशयपर मुकदमा चलानेका विचार करने लगे । नाग महाशयने घर आकर बंदूकोंको अलग रख दिया और प्राणघातक अस्त्रसे स्पर्श होनेके कारण हाथोंको अच्छी तरहसे धोया । कुछ देर बाद नाग महाशयने पाटके कारखानेके एक कर्मचारीके द्वारा बंदूकें लौटा दीं। कर्मचारीके मुखसे नाग महाशयके साधु-चरित्रकी प्रशंसा सुनकर साहबोंके मनमें उनके प्रति श्रद्धा हो गयी और फिर वे शिकार खेलनेके लिये देवभोग कभी नहीं गये ।

उनके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएँ हैं—जिनसे उनके साधु स्वभाव, अहिंसा, प्रेम, परदुःखकातरता, भगवद्भक्ति और अनोखी सहनशीलताका पता लगता है ।

नाग महाशय परमहंस रामकृष्णके खास शिष्योंमेंसे थे और इनपर परमहंसदेवकी बड़ी ही कृपा रहती थी । सभी लोग इनको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते थे । प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दने तो अमेरिकासे लौटकर यहाँ-तक कहा था कि 'हमारा जीवन तो तत्त्वकी खोजमें ही व्यर्थ बीत गया । हम लोगोंमें एक नाग महाशय ही ऐसे हैं, जो परमहंसदेवकी सफल सन्तान हैं ।'

पिताके परलोकगमनके तीन वर्ष बाद तिरपन वर्षकी उम्रमें आपने देह त्याग किया । उस समय प्रसिद्ध स्वामी शारदानन्द आपके पास थे ।

अमृत-बिन्दु

सत्ययुग आदिमें बड़े-बड़े ऋषियोंको जो भगवान् प्राप्त हुए थे, वे ही आज कलियुगमें भी सबको प्राप्त हो सकते हैं।

*　*　*　*

भोगोंकी प्राप्ति सदाके लिये नहीं होती और सबके लिये नहीं होती। परंतु भगवान्‌की प्राप्ति सदाके लिये होती है और सबके लिये होती है।

*　*　*　*

साधारण मनुष्यको जिन भोगोंमें सुख प्रतीत होता है, उन भोगोंको विवेकशील पुरुष दुःख-रूप ही समझता है। इसलिये वह उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनके अधीन नहीं होता।

*　*　*　*

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेकर, उनसे सम्बन्ध जोड़कर सुख चाहनेवाला पुरुष कभी सुखी नहीं हो सकता—यह नियम है।

*　*　*　*

जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव करना चाहते हैं, उनके लिये प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होनी आवश्यक है।

*　*　*　*

कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सभी साधनोंमें एक दृढ़ निश्चय या उद्देश्यकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अपने कल्याणका उद्देश्य ही दृढ़ नहीं होगा, तो साधनसे सिद्धि कैसे मिलेगी ?

*　*　*　*

जीवन तभी कष्टमय होता है, जब संयोगजन्य सुखकी इच्छा करते हैं और मृत्यु तभी कष्टमयी होती है, जब जीनेकी इच्छा करते हैं।

*　*　*　*

यदि वस्तुकी इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करनेका प्रयत्न करते और यदि जीनेकी इच्छा पूरी होती हो तो मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परन्तु इच्छाके अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्युसे बचाव ही होता है।

*　*　*　*

इच्छाका त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र हैं, कोई पराधीन नहीं है और इच्छाकी पूर्ति करनेमें सब पराधीन हैं, कोई स्वतन्त्र नहीं है।

*　*　*　*

जबतक सांसारिक सुख लेनेकी वृत्ति नहीं मिटेगी, तबतक कितना ही पढ़-लिख लें, कितने ही चतुर और समझदार बन जायँ, कितनी ही योग्यताका सम्पादन कर लें, कितने ही व्याख्यानदाता बन जायँ, कितनी ही पुस्तकें लिख लें, पर परमशान्ति नहीं मिलेगी।

*　*　*　*

क्रियाओं और पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही अपने स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता।

'ईश्वर सब ठीक कर देंगे'

(ईश्वर-विश्वासपर एक अमेरिकन महिलाका अनुभव)

ग्रीष्मकालमें सप्ताहके तीन दिन तीसरे पहरको 'ट्रूथसेंटर' के पुस्तकालयमें, जिसमें मेरी रुचि थी, बिताया करती थी। पत्रिकाओं तथा पुस्तकोंसे सजे मेज और आरामकुर्सियोंसे अलङ्कृत पुस्तकालयके ठंडे मनोरम कमरेमें सड़ककी चिलचिलाती धूपसे निकलकर प्रवेश करना बहुत आनन्ददायक लगता था।

एक दिन तीसरे पहर मैंने पुस्तकालयमें एक जवान लड़कीको देखा। उसको मैंने पहले कभी-कभी रविवारकी उपासनामें भी देखा था। खिड़कीके समीप बैठकर 'यूनिटी मैगजिन' पढ़नेका प्रयत्न कर रही थी। सिसकनेकी-सी आवाज आयी। एक बार जब मैंने उसकी ओर देखा, तब वह चश्मा उतारकर आँखें पोंछ रही थी। उसने घूमकर देखा कि किसीने उसे ऐसा करते देख तो नहीं लिया है और क्षणभरके लिये इसीमें हमारी चार आँखें हो गयीं। मैं अपने काममें लग गयी, जैसे कि मैंने उधर देखा ही न हो और कुछ नयी पुस्तकोंके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोंका समाधान करने लगी।

कुछ क्षणके बाद मैंने देखा कि लड़की पत्रको अलग रखकर निराशाकी मुद्रामें खिड़कीके बाहरकी ओर देख रही है और उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये हैं। देर हो रही थी और कमरेमें कोई था भी नहीं। मैंने उसके समीप जाकर उससे कहा—'क्या इस सम्बन्धमें तुम मुझे कुछ बतला सकोगी? या इसे अपनेतक ही सीमित रखोगी?

उसने आँसुओंसे भींगा रूमाल हटा लिया और वह जोर-जोरसे सिसकने लगी। मैंने उसके पास ही खिड़कीके निकट बैठकर उसे समझाया, 'बहिन! यहाँ न कोई देख रहा है, न सुन रहा है, जो कुछ भी बात हो कह डालो। इसके बाद ही तुम्हारा बोझा (दस पौंड) हलका हो जायगा।' थोड़ी ही देरमें उसने एक गहरी सिसकी ली। फिर कहा—'आपकी बड़ी दया है, परंतु मुझे खेद है कि मैं वह बात आपको नहीं बतला सकती।'

उसके फिर कुछ कहनेके पहले ही मैंने कहा—'मुझे मालूम है। कभी-कभी ऐसे उद्गार निकल ही पड़ते हैं, फिर भी अब सोचना यह है कि क्या किया जाय? मान लिया जाय कि हम इस सम्बन्धमें कुछ न कर पायें, परंतु ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे ईश्वर न कर सकें। ईश्वर सब कुछ कर सकते हैं और वह हमींसे करायेंगे। धैर्य धारण करो और इसका उत्तरदायित्व (भार) ईश्वरपर छोड़ दो।'

उसने सम्भवतः वैसा ही किया। उसका भार हलका हो गया, उसकी गम्भीर आँखोंने मुझे यह विश्वास दिलाया।

उसने अपने-आप ही कहा—'यदि आप सुनना चाहती हैं तो मैं कुछ इस सम्बन्धमें निवेदन कर सकती हूँ। शायद आपसे सहायता मिले। क्या आप ध्यान देंगी?'

'ध्यान! मैं किसीकी सहायता कर सकूँ, इससे बढ़कर और अच्छी बात मेरे लिये हो ही क्या सकती है? मैंने दूसरोंसे बड़ी सहायता ली है, इसलिये दूसरोंकी सहायता करनेकी मुझे सदा चाह रहती है।' लेकिन ईश्वर ही सब कुछ करते हैं—अपनी इस बातको ध्यानमें रखते हुए मैंने कहा—'तुम अपनी सारी बात मुझे सुनाओ।'

कुर्सीपर आरामसे बैठकर उसने कहा—'मेरा एक बहुत जरूरी कागज नहीं मिल रहा है। मैंने बहुत ढूँढ़ा, पर कहीं पता नहीं लगा। मुझे कल सबेरे ही

उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। कागज नहीं मिलेगा तो पता नहीं, मुझपर कितनी कानूनी विपत्तियाँ आवेंगी। वह कागज सबेरे ही दिखलाना है। बताइये, मैं क्या करूँ?'

डेस्कके दराजों या भीतरी पाकेटोंमें खोजनेकी बात न करके मैंने निर्भीकताके साथ उससे कहा—'कागज मिले या न मिले, तुम्हें अपने कामसे मतलब है या कागजसे? तुम कागजके लिये इतनी क्यों परेशान हो?'

उसने आश्चर्यसे कहा—'क्यों? मेरी चीज है, मुझे मिलनी ही चाहिये।'

'ठीक है, थोड़ी देरके लिये कागजकी बात भूल जाओ और सोचो कि वह तुम्हारा कौन-सा काम है जो आसानीसे सफल हो जाय और उससे सम्बन्धित दूसरे सभी लोगोंका हित हो।'

'पर यह सब तो कागज मिलनेपर ही होगा। मुझे तो सबसे पहले कागज दिखलाना है।'

'शायद नहीं' कहकर मैं मुसकरायी। 'कदाचित् बिना कागज दिखलाये ही ईश्वर सब कुछ ठीक कर दें। तुम यदि ईश्वरपर विश्वास करके सब बातें उन्हें सही-सही बता दो और उचितरूपसे अपनी स्थिति समझा दो तो तुम उनके निर्णयपर आश्चर्यचकित हो जाओगी। कोई कागज रहे या न रहे। ईश्वर ठीक कर लेंगे, सब कुछ ठीक कर लेंगे।'

एक क्षण सोचनेके बाद उसने कहा—'मैं आपका विश्वास करती हूँ।' वह शिष्ट और दृढ़ संकल्पवाली थी। उसने अपने झोलेको सँभालकर हैट ठीक किया, साँस ली और लहँगेका किनारा ठीक कर वह अपने शरीरके बलपर खड़ी हो गयी।

'क्या आप कागजके टुकड़ेपर लिख देंगी कि 'ईश्वर सब कुछ ठीक कर देंगे जिससे मैं उसको अपने साथ ले जा सकूँ।'

मैंने उसके कहनेके अनुसार लिख दिया, तब उसने कहा—'अब मैं घर जाकर एक बार फिर कागज खोज निकालनेका प्रयत्न करूँगी। यदि मैं न पा सकी तो भी कल उनसे मिलने जाऊँगी। मैं कागजके लिये इतनी **'किंकर्त्तव्यविमूढ़'** हो गयी थी कि मुझे पता ही न चला कि इस कामके लिये दूसरा रास्ता भी है। अब मुझे विश्वास हो गया है कि सब कुछ ठीक ही होगा। जो कुछ भी होगा, मैं आपको बतला दूँगी।

उसने मुझे चुपकेसे धन्यवाद दिया; वह चली गयी। मैंने और बातोंसे मन हटाकर देखा कि वह निश्चिन्त और स्वस्थचित्त होकर चली जा रही है। किसी प्रकारकी भ्रमकी रेखा उसके चेहरेपर नहीं थी। उसने स्वीकार किया था कि सब कुछ ठीक होगा और ऐसा ही हुआ भी। ईश्वरने पहलेसे ही सब बातें ठीक कर रखी थीं। दूसरे सप्ताह वह लौट आयी। डेस्कके सामने धीरेसे खड़ी हो गयी और प्रेम तथा कृतज्ञता प्रकटकर मुसकराने लगी।

'सब ठीक है।' उसने कहा—'कागज तो नहीं मिला। सचमुच खो ही गया, ऐसा समझती हूँ।.... लेकिन दूसरे दिन सबेरे जब मैं उनसे भेंट करने गयी तो उन लोगोंने कागजके सम्बन्धमें पूछातक नहीं। मैंने उनसे कह दिया कि कागज नहीं मिल सका, इसपर उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। मैं मुसकरायी। या तो उन्होंने यह समझा कि मैंने सत्य कहा है या वे भूल गये, पर फिर न मैंने ही बात चलायी और न उन्होंने ही प्रसंग छेड़ा। बस, जो बचे कागज मेरे पास थे, उन्हींसे काम चल गया। निर्णय सर्वथा आशातीत और सन्तोषजनक हुआ।'

इतना कहकर और मुझे धन्यवाद देकर, जो मेरी अपेक्षा ईश्वरके लिये ही अधिक था, मुसकान बिखेरती हुई वह कुर्सीपर बैठ गयी। (यूनिटी)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवान्‌की कृपाने जलसमाधिसे रक्षा की

२९–८–८२को जगन्नाथ धामके लिये प्रस्थान किया। जयपुरके श्रीगणेशजीके दर्शनके साथ अनेक अन्य तीर्थोंके दर्शन करते हुए दिनांक १५–९–८२को प्रयागराज त्रिवेणी संगम पहुँचे। स्नान सम्पन्न हुआ। वैसे तो हम लोग चार बसोंमें लगभग २०० सहयात्री थे, पर हमारी बसमें छोटे-बड़े ५३ साथी थे। एक वृद्धामाताके पैरमें काँटा गड़ जानेके कारण वे तो बसमें ही रह गयीं पर हम ५२ साथी संगम-स्नानके पश्चात् १२–५०बजे अपनी धर्मशाला गोघाटके लिये चल दिये। किंतु अचानक हमारे एक साथीके दिमागमें आया कि नौकायानका भी आनन्द उठाया जाय। ऐसा सोचकर उन्होंने सभीसे प्रस्ताव किया कि नौका-विहार किया जाय। सभी साथी दो नावोंमें प्रसन्नतापूर्वक बैठ गये। पत्नी दूसरी नावपर बैठ गयी तो पति दूसरी नावपर; बच्चे दूसरी नावपर माता-पिता दूसरी नावपर। सभी लोगोंके बैठ जानेके बाद दोनों नावें रवाना होकर २० मीटर दूर ही पहुँची होंगी कि पूर्व व उत्तरके कोनेसे एक तेज हवाके साथ तूफानने हमारी दोनों नावोंको अपने चपेटमें ले लिया। नावोंके वापस किनारे लगानेके सभी प्रयास विफल हो गये। नावोंको तूफान ५-६ फुट ऊँची लहरोंपर उठाकर बीच धारामें ले गया। इसमें अधिकसे-अधिक पाँच-दश मिनटका ही समय लगा होगा कि हम सभीको ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब हमारी जीवनलीला किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है; क्योंकि जहाँतक दृष्टि जाती थी चारों ओर भयंकर तूफान ही दिखायी पड़ता था। आठसे दश फुट ऊँची लहरोंमें नावें हिचकोला खातीं—लहरोंके साथ नीचे-ऊपर उठती रहीं। इस स्थितिसे सभी लोग घबराकर जीवनकी आशा छोड़कर भयभीत होकर आर्तनाद करने लगे। यात्रियोंमें भय और आतंकका वातावरण बना रहा। उद्वेलित पानीमें नावका नीचे और ऊपर होना प्रतिक्षण भयंकर होता जा रहा था। इसको देखकर सभी लोगोंको यह कहा गया कि अपने पासके सामानको छोड़कर तथा एक दूसरेको बिना पकड़े अपने-अपने स्थानपर स्थितप्रज्ञ स्थितिमें बैठकर अपने-अपने इष्टदेवका स्मरण करें। कुछ लोगोंने आँख बन्द करके ध्यान लगा लिया। इस बीच हमारी नाव तीन बार डूबते-डूबते बची। लहरोंसे नावमें थोड़ा पानी भी भर गया। तूफानके साथ आसमानमें भयंकर घटा छायी हुई थी। परन्तु ईश्वरकी कृपासे केवल बूँदा-बाँदी ही होती रही। जीवन-मरणके मध्य प्रत्येक यात्रीके मुखसे 'हरेकृष्ण, हे राम, हे महादेव, हे गंगा मैया, हे त्रिलोकी नाथ! बचाओ, गंगा मैया! रक्षा करो' निकल रहे थे। झंझावातकी त्रासद लीला लगभग दो घण्टेसे चल रही थी। परन्तु भगवत्कृपाकी क्या महिमा कही जाय; अचानक एक अतिभयंकर लहर आठ दश फुट ऊँची आती दिखायी दी जिसे देखकर हम यह सोच ही रहे थे कि अब डूबे, कि इतनेमें ही हमारी नाव उस पार लगभग १०० गज किनारेकी ओर पलक झपकते ही सरक गयी। इसी समय दूसरी तरंग ६से८फुट ऊँची पुनः आयी। उस धक्केसे ५० गजके लगभग नाव और किनारे पहुँच ही रही थी कि सतत तीसरी लहरने हमारी नावको किनारेपर कीचड़में ले जाकर पटक दिया। इसके कारण नावसे कुछ लोग उछलकर अपने आप कीचड़में जा पड़े एक माताजी नावके नीचे दब गयीं; एक माताजी नावके अन्दर फँस गयीं। हम उतर ही रहे

थे कि उससे एक मिनिट पहले हमारे साथियोंकी नाव भी हमसे २ फर्लांगकी दूरीपर किनारे लग चुकी थी। उसको सकुशल किनारे लगते हुए देखकर परमपिता परमात्माको धन्यवाद देते हुए हम सब एक-दूसरेसे मिले। हम सब भगवत्कृपासे सुरक्षित बच गये।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि भगवान्की कृपासे गङ्गामाताने हमें अनुग्रह कर जीवनदान दे दिया।

(२)

ईमानदार विद्यार्थी

यह बात १६ अगस्त १९७४ की है। मेरे पिताके एक मित्र जो पोस्टआफिसमें डिवीजनल इन्सपेक्टरके पोस्टपर कार्यरत हैं, १६ अगस्तको करीब नौ बजे रातको प्रधान डाकघरसे अपने घर मोटर साइकिलसे जा रहे थे। वे अपना हैण्डबैग मोटर साइकिलके पीछे केरियरमें दाबे हुए थे। श्रीसिंह जब अपने घर पहुँचे तब देखते हैं कि केरियरमें हैण्डबैग नहीं है। वे बहुत चिन्तित हुए और फौरन मोटर साइकिलपर सवार हुए और पूरे रोडको देखते हुए वापस डाकघर पहुँचे। लेकिन हैण्डबैग कहीं दिखायी नहीं पड़ा। वे वहाँसे बहुत निराश होकर घर लौट आये। हैण्डबैग नहीं मिलनेके शोकमें वे रातभर सो नहीं पाये और सुबह होते ही हमारे डेरेपर पहुँचे। उन्होंने सारी बातें हमारे पिताजीसे कह सुनायी। हमारे पिताजी एक रिटायर्ड पोस्टल ऑफिसर हैं और श्रीसिंहके शुभचिंतक भी। मेरे पिताजी सारी बातें सुनकर मुझे खबर करने मेरे पास आये और बोले कि श्रीसिंह तुम्हें खोज रहे हैं। मैं फौरन उनसे मिलने पहुँचा। श्रीसिंह बहुत उदास थे। श्रीसिंह बोले—'मेरा बेग कल नौ बजे रातको मोटर साइकिलसे गिर गया। मैं पूरे शहरमें लाउडस्पीकरसे प्रचार करवाना चाहता हूँ।' मैं तुरंत तैयार हो गया और पूरे शहरमें प्रचार किया। प्रचारमें करीब चार घंटे लगे लेकिन हैण्डबैगका कहीं भी पता नहीं चला।

श्रीसिंह बहुत निराश होकर बोले—'अब तो भगवान् ही हैं?' 'क्या आप ही जमदार सिंह हैं?' एक अपरिचित व्यक्तिने उस समय पूछा जिस समय श्रीसिंह अपने दरवाजेपर स्नान कर रहे थे। 'हाँ मेरा ही नाम जमदारसिंह है' श्रीसिंह बोले। विद्यार्थी—'आपका ही हैण्डबैग खो गया है? कल मैंने हैण्डबैग खो जानेका प्रचार सुना, वह हैण्डबैग मुझे परसों रातको रास्तेपर गिरा पड़ा मिला। क्या आपका हैण्डबैग यही है?' श्रीसिंह बोले—'हाँ-हाँ-हाँ, यही हैण्डबैग है!' विद्यार्थी हैण्डबैग बढ़ाते हुए श्रीसिंहसे बोला—'देख लीजिये आपका सामान सुरक्षित है न!' श्रीसिंहने हैण्डबैग हाथमें लेते हुए भगवान्को लाख-लाख धन्यवाद दिये और बोले 'हाँ-हाँ सुरक्षित है।' उस हैण्डबैगमें एक लुंगी, एक राइफलका लाइसेंस, रेलवेका मोतिहारीसे बेतियातकका मासिक टिकट, फोटो-सहित एक सौ रुपये तथा बहुत जरूरी सरकारी कागजात थे। सभी सामानोंके साथ हैण्डबैग पाकर श्रीसिंहकी खुशहालीका ठिकाना न रहा। श्रीसिंह सौका एक नोट उस अपरिचित व्यक्तिको इनामके तौरपर देनेके लिये हाथ बढ़ाये। उस व्यक्तिने सौका नोट हाथमें न लेते हुए कहा—सर, यह तो मेरा कर्तव्य था। मैं एक विद्यार्थी हूँ।'

(राजकिशोर)



मनन करनेयोग्य

(१)

गरीब लड़केकी ईमानदारी

एक गरीब लड़का था। घरमें उसकी माँ थी और एक छोटी बहिन। बहिन बीमार थी। वह उसकी दवा करानेके लिये अपने चाचासे कहने जा रहा था। रास्तेमें उसे एक पाकेटबुक पड़ी मिली। उसमें १२०)के नोट थे।

लड़का बड़ा ईमानदार था। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि 'यह जिसकी पाकेटबुक है, उसका पता लगाकर उसे जरूर दूँगा।' उसने घर जाकर अपनी माँसे सब हाल सुनाकर कहा—'माँ! जिस बेचारेकी पाकेटबुक खोयी है, उसको बड़ी चिन्ता हो रही होगी; क्योंकि इसमें उसके रुपये हैं। हम ये रुपये रख लेंगे तो बहुत पाप होगा और प्रभु हमपर नाराज होंगे। पर जिसके रुपये खोये हैं, उसका पता कैसे लगे; माँ! तू कोई उपाय बता—जिससे मैं उसे खोज पाऊँ।' लड़केकी माँ भी बड़ी ईमानदार थी। तभी तो उसके ऐसा पुत्र हुआ। वह पुत्रकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसने कहा—'बेटा! भगवान् तेरी नीयतकी सचाई इसी प्रकार दृढ़ रक्खें। तेरा कल्याण हो। बेटा! किसी अखबारमें खबर देनेसे मालिक आप ही आकर ले जायगा।'

लड़का अखबारवालेके पास गया। उसकी नेकनीयती देखकर अखबारवालेने उसके नामसे यह विज्ञप्ति छाप दी—'मुझे एक पाकेटबुक रास्तेमें मिली है, उसमें एक सौ बीस रुपयेके नोट हैं। जिसकी हो, वह अमुक पतेपर आकर सबूत देकर ले जाय।' विज्ञप्ति पढ़कर पाकेटबुकका मालिक आया और इतनी गरीबीमें भी ऐसी ईमानदारी देखकर चकित हो गया।

उसने कहा—'जो गरीब होकर भी दूसरोंके पैसोंपर जी न ललचाता हो, वही सच्चा ईमानदार है, और वही प्रशंसाके योग्य है, और सचमुच गरीब ही ऐसे ईमानदार होते हैं, पैसेवाले तो प्रायः अभाव न होनेपर भी, पैसेके संगसे लोभमें पड़कर बेईमान हो जाते हैं। तुमलोगोंको धन्य है जो इस प्रकार प्रभुपर विश्वास रखकर अपने सत्यपर डटे रहे।' यह कहकर उसने वे नोट लड़कीकी दवा और सेवाके लिये आग्रहपूर्वक दे दिये और लड़केको अपने यहाँ अच्छी नौकरी दे दी। लड़का अपनी ईमानदारीके बलपर आगे चलकर नामी और धनी व्यापारी बना।

(२)

बालक जार्ज वाशिंग्टनकी सचाई

जार्ज वाशिंग्टन अमेरिकाके एक किसानका लड़का था। वह जब छोटा था, तब एक दिन उसके पिताने उसे एक कुल्हाड़ी दी। उसे लेकर जार्ज बगीचेमें खेलने लगा। बगीचेमें जो पेड़ देखता, वह उसीपर कुल्हाड़ी चलाता और हँसता। उसके पिताने बड़ी कठिनतासे प्राप्त करके एक फलका वृक्ष लगाया था। जार्जने उसपर भी कुल्हाड़ी चला दी। इस प्रकार कुल्हाड़ीसे खेलकर वह खुशी-खुशी घर लौटा।

इधर उसका पिता बगीचेमें पहुँचा तो उसने उस फलके पेड़को कटा देखा। उसे बहुत दुःख हुआ। उसने मालियोंसे पूछा, पर किसीने भी पेड़ काटना स्वीकार नहीं किया। तब घर आकर जार्जसे पूछा। जार्जने कहा—'पिताजी! मैं खेल रहा था और पेड़ोंपर कुल्हाड़ी चला-चलाकर यह अजमा रहा था कि मुझसे पेड़ कटते हैं कि नहीं। उस पेड़पर भी मैंने ही कुल्हाड़ी मारी थी और वह उसीसे कट गया था।'

पिताने कहा—'बेटा! तुझे इस कामके लिये तो मैंने कुल्हाड़ी नहीं दी थी—परंतु तेरी सच्ची बातपर मैं बहुत खुश हूँ। इससे मैं तेरा कसूर माफ करता हूँ। तेरी सचाई देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है।'

यही जार्ज वाशिंग्टन बड़ा होकर अमेरिकाका प्रख्यात प्रेसिडेंट हुआ था।

मनका विष और उसका उपचार

एक विष ऐसा होता है कि उसकी क्रिया सीमित रहती है, परिणाम भी निश्चित रहता है—जैसे संखिया। किसीने संखिया खा लिया तो उसकी क्रिया शरीरतक ही सीमित रहेगी। शरीर जलने लगेगा, असह्य पीड़ा होगी, हृदयकी नाड़ी बंद हो जायगी, प्राण निकल जायँगे। बस, इससे अधिक संखिया खा लेनेपर और कुछ भी नहीं होगा। पर कुछ विष ऐसे हैं जिनकी क्रिया बड़ी व्यापक होती है, परिणाम भी निर्धारित नहीं होता। वे विष हैं—घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि दुर्गुण। इनका सेवन मनके द्वारा होता है। इनमेंसे किन्हींको यदि प्राणीने अपने अंदर स्थान दे रक्खा है तो वे संखियाकी तरह सीमित क्रिया करके, निश्चित फल देकर ही निवृत्त नहीं होंगे; बल्कि ये दुर्गुणरूपी विष जन्म-जन्मान्तरतक साथ रहेंगे, सदा जलाते रहेंगे, अनेक प्रकारकी यातनाएँ देते रहेंगे, और न जाने कितनी बार जन्म-मरणकी मार्मिक पीड़ाएँ देंगे।

किंतु जब मनुष्यकी बुद्धिमें तमोगुण बढ़ता है तो वह भ्रमवश इन दुर्गुणोंमें अमृतकी भावना करने लगता है। फिर तो वह व्यक्तिसे, समाजसे, जातिसे, राष्ट्रसे असूया-घृणा करनेमें अपने गौरवकी रक्षा मानता है, द्वेष-वैर करनेमें अपनी प्रतिष्ठाकी रक्षा होते देखता है, कामनाओंको पोषण करनेका नाम प्रगति रखता है, अंदर बसी हुई क्रोधकी वृत्तिको तेज मानने लगता है, मदका नाम आत्मसम्मान रखकर उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है, लोभको अपनी उन्नतिका साधन समझता है, मोहका नाम प्रेम रखकर जीवनको बर्बाद कर देना आदर्श मानता है, मात्सर्यको व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्रके सुधारके लिये आवश्यक वस्तु अनुभव करता है। इसीलिये ये विष—ये दुर्गुण मनुष्यमें बढ़ते चले जाते हैं। अन्तःकरण इनसे इतना ढक जाता है कि हृदयमें विराजित प्रभुकी ओरसे निरन्तर बहती हुई आनन्दधाराके लिये द्वार ही बंद हो जाता है, हमारी इन्द्रियोंमें प्रभुके द्वारा दिये हुए उस परमानन्दका एक कण भी नहीं आ पाता, इन्द्रियाँ स्थायी आनन्द पानेके लिये तरसती रहती हैं, भटकती रहती हैं, पर उन्हें स्थायी आनन्द कभी नहीं मिलता।

जिस समय हमारे अंदर किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जगती है, द्वेषका भाव उदय होता है, किसी वस्तुके लिये कामना होती है, किसी वस्तु या व्यक्तिको निमित्त बनाकर क्रोध उत्पन्न होता है, अपने प्रभाव-प्रभुत्वकी स्मृति होकर मदके विचार आने लगते हैं, किसीकी उन्नति देखकर मत्सरता (ईर्ष्या, डाह) आती है, उस समय उन-उन वृत्तियोंके अनुरूप ही विचारोंकी मूर्तियाँ बनने लग जाती हैं। घृणासे बनी हुई विचार-मूर्तिमें नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर घृणा भरी रहेगी, द्वेषकी विचारमूर्तिमें द्वेष भरा होगा। इसी प्रकार अन्य विचार-मूर्तियोंमें भी वे-वे भाव भरे होते हैं। इन मूर्तियोंमें कम्पन होता रहता है तथा ये जैसी हैं, उसी प्रकारकी किरणें इनसे निकलती रहती हैं। साथ ही, जैसे ये मूर्तियाँ हमारे अंदर बनीं कि बस, उसी क्षण, जिनके निमित्तसे ये बनी हैं, उनकी ओर दौड़ जाती हैं, उनके पास पहुँच जाती हैं तथा उनमें द्वेष, वैर, काम, क्रोध आदि उत्पन्न कर बदल देती हैं।

इस विष-समूहका—दुर्गुणोंका—त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा हम सदा जलते रहेंगे, कभी सुखी नहीं होंगे। प्रभुके दिये हुए परमानन्दकी अनुभूति हमें कभी नहीं होगी। वह आनन्द हमें मिलनेका ही नहीं है। आज उस आनन्दकी छायाको विषयभोगके समय यदि हम पाते भी हैं तो उसमें भी ये विष मिल जाते हैं; क्योंकि जिस अन्तःकरणसे, जिन इन्द्रियोंसे हम

भोग भोगने जाते हैं, उनमें ये दुर्गुणरूपी विष भरे पड़े हैं, हमारे लौकिक आनन्दको भी ये विषैला कर देते हैं। इसलिये इनका प्रतीकार हमें करना ही है। पर प्रतीकार बातोंसे नहीं होगा। इन्हें शान्त करनेके लिये हमें साधनामें तत्पर होकर लगना पड़ेगा, न जाने कबसे स्थान पाये हुए और निरन्तर बढ़ते हुए इन दुर्गुणोंको जड़-मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिये हमें सदा सजग रहकर परिश्रम करना पड़ेगा।

वह साधना क्या है ? किस प्रकारका परिश्रम है ? इसका उत्तर यह है कि इसके लिये पहले तो यह दृढ़ विश्वास करना पड़ेगा कि वास्तवमें ये भयानक विष हैं और शीघ्र-से-शीघ्र त्यागने योग्य हैं। यदि इनमें हमारी गुण-बुद्धि बनी रही तब तो इनका त्याग असम्भव ही है। इसलिये पहले तो इन समस्त दोषोंमें हमारी विषबुद्धि हो, एवं फिर साधनामें लगे। जिस समय हमारे मनमें किसीके प्रति घृणाकी वृत्ति जागे, उसी समय, उसी क्षण हम अपनेमें उसके प्रति प्रेमकी भावना जाग्रत् करें। किसी दोषको देखकर ही तो हम उससे घृणा कर रहे हैं ? पर क्या उस व्यक्तिमें केवल दोष-ही-दोष भरे हैं ? उसमें कोई भी सद्गुण नहीं है ? सब दोष-ही-दोष भरे हों, एक भी सद्गुण न हो, यह तो असम्भव है। जगत् बना है सत, रज एवं तमके मिश्रणसे। जहाँ तम है वहाँ रज, सत् भी हैं ही। मात्रा कितनी भी अल्प हो। जहाँ हमें तमोगुण दीखता है, तमोगुणके परिणामी दोष दीखते हैं, वहाँ सत् एवं सत्त्वगुणके परिणामस्वरूप कोई-न-कोई सद्गुण है ही। फिर हम क्यों नहीं अपनी दृष्टि उस सद्गुणपर ठहराकर उस व्यक्तिसे प्रेम करना आरम्भ करें ? उसके उसी सद्गुणको देखते हुए हम उसके प्रति प्रेमकी भावना भेजें। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि जैसे घृणाकी भावना दूसरेमें भी घृणा उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रेमसे सनी हुई हमारी गुणदृष्टि उस व्यक्तिके पास जाकर उसके उस अल्प सद्गुणको बढ़ा देगी, उसमें प्रेमका बीज बो देगी। इस प्रकार उसके प्रति प्रेमकी भावना करके, उसमें सद्गुण देखकर हमने उसे तो ऊपर उठाया ही, हमारे अंदर जो एक घृणाकी गंदी लहर उठी थी, उसे इस प्रेमकी लहरने दबा दिया, हम जलने लगते पर उसके बदले हममें सुखमयी शीतलता आ गयी।

जब हममें किसीके प्रति द्वेषका भाव उत्पन्न हो, उस समय तुरंत हम यह भाव करें कि 'नहीं, यह तो हमारा मित्र है, निश्चय मित्र है, इसके द्वारा हमारी बुराई हो नहीं सकती।' जहाँ ये भाव हमारे मनमें आये कि ये दौड़कर उसके पास भी जा पहुँचेंगे, उसकी अनजानमें उसके अंदर हमारे प्रति मित्रताका बीज बो ही देंगे। यह सम्भव है कि उस व्यक्तिका हृदय उपयुक्त न होनेके कारण अथवा हमारे मित्रभावका बीज पुष्ट न होनेके कारण इसके अङ्कुरित होनेमें समय लगे। पर उसमें मित्रभावका आरम्भ तो हो ही गया। साथ ही जो द्वेषकी वृत्ति हमें जलाती थी, वह शान्त हो गयी।

जिस क्षण कामसम्बन्धी कोई भावना मनमें प्रकट हो, उस क्षण हम भोगके त्यागकी परम उज्ज्वल भावनाएँ बढ़ाने लग जायँ। भोगका त्याग करनेवाले संत पुरुषोंकी त्यागमयी सुन्दर घटनाओंका स्मरणकर वैसे विचारोंकी आवृत्ति करने लगें। परिणाम यह होगा कि तत्परतासे की हुई यह आवृत्ति त्यागमयी विविध सुन्दर विचारमूर्तिका निर्माण करने लगेगी। इतना ही नहीं, वातावरणमें ऐसे सुन्दर जो भी विचार फैले होंगे, उनको अपनी ओर आकर्षित करने लगेगी, हमारे ये सुन्दर भाव पुष्ट होने लगेंगे। हमारे अंदर तो वह कामकी कुत्सित वृत्ति दबेगी ही, वातावरणमें सुन्दर त्यागमय परमाणु बिखर जायँगे जो दूसरोंकी जलन शान्त करनेमें भी सहायक बनेंगे।

क्रोध आनेकी सम्भावनासे पूर्व ही हम क्षमाके विचारोंका मनन आरम्भ कर दें। हमारा यदि क्रोधी स्वभाव है तो हम बड़ी तत्परतासे दिन-रात निरन्तर क्षमाकी भावनाओंको अपने अंदर बढ़ायें। अन्यथा जैसे आग जिस वस्तुमें प्रकट होती है, पहले उसे जलाती है, फिर सम्पर्कमें आनेवाली दूसरी-दूसरी वस्तुओंको, वैसे ही, क्रोधाग्निसे हम पहले जलेंगे, फिर औरोंको जलायेंगे। यदि हमें इस क्रोधरूपी विषकी ज्वालासे स्वयं बचना है तथा औरोंको बचाना है तो क्षमाकी भावनासे मनको भरते चले जायँ। क्षमाके ये भाव कभी निष्फल तो होंगे ही नहीं, बल्कि हमें शीतल करके दूसरोंके उन दोषोंको भी निश्चय धो देंगे।

ऐसे ही जब अपनेमें पूर्णताकी मिथ्या-अनुभूति होकर अथवा अपना प्रभुत्व, गुण देखकर मद जागे तो हम सोचें—'यह हमारा मद कितना मिथ्या है। हम बड़े भारी वक्ता हैं; माना, पर वाणीमें बोलनेकी शक्ति किसकी दी हुई है? प्रभुने ही तो यह शक्ति दी है। यदि प्रभु आज वाणीकी शक्ति छीन लें, लकवा मार जाय तो हमारा यह मद धूलमें मिल जाय या नहीं? हम बड़े भारी विद्वान् हैं, सभी विषयोंकी जानकारी रखते हैं। ठीक है; पर हमारे मनमें विद्याका उन्मेष किसने किया? विद्याग्रहणकी शक्ति मनमें किसने दी? प्रभुकी शक्तिके बिना क्या यह सम्भव है? यदि वे अपनी शक्ति हटा लें, हमारा मस्तिष्क विकृत हो जाय तो हमारा यह सारा मद चूर-चूर हो जाय या नहीं? हमारा रूप बड़ा सुन्दर है, कण्ठ बड़ा मीठा है, संगीतमें हमारी बराबरी कौन कर सकता है? बहुत ठीक; पर कल यदि हमारे अनन्त दुष्कर्मोंमेंसे किसीके फलस्वरूप प्रभु यह विधान कर दें कि चेचक हो जाय, कोढ़ हो जाय, गलेमें कैंसर हो जाय, तो हमारा वह सुन्दर रूप, कलापूर्ण कण्ठ तीन कौड़ीका हो जायगा या नहीं? मतलब यह कि मदकी वृत्ति जागते ही मनमें अपनी दीनताके भाव तथा सारा महत्त्व प्रभुका है—यह भाव बढ़ाने लगें। ये पवित्र दैन्यके विचार और इनसे निर्मित भाव-मूर्तियाँ हमारे मदको तो कुचल देंगी ही, दूसरेमें भी प्रभुके प्रति आस्तिकताका, प्रभुके महत्त्वका भाव उदित करेंगी। स्वयं हम प्रभुके चरणोंमें नत होकर अभिमानके भारसे मुक्त होंगे, दूसरेका भी भार हल्का कर देंगे।

इसी प्रकार जब दूसरेकी उन्नति देखकर मत्सरता (डाह) मनमें झाँकने लगे तो तुरंत ही उल्लासकी वृत्ति जगाकर हम इसे रोक दें। हमारा अणु-अणु दूसरेकी उन्नतिसे प्रसन्न होने लगे, प्रसन्न होकर हम उसके उन्नत सुखमय जीवनके चित्रोंकी कल्पना मन-ही-मन आरम्भ करें। बिना विलम्ब ये विचारके चित्र उसके पास पहुँच जायँगे। जाकर उसके सुखको तो बढ़ायेंगे ही, साथ ही हमारे चारों ओर वैसे ही उन्नत सुखका वातावरण बन जायगा। हम सुखी हो जायँगे; क्योंकि यह नियम है कि हमारे विचारोंके अनुरूप ही हमारा बाहरी संसार भी बनता है।

मनको उद्बोधन

मन! माधवको नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंकके धन ज्यों, छिन-छिन प्रभुहिं सँभारहि॥ १॥
सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन विषय-बिकारहि॥ २॥
जो बिनु जोग-जग्य-ब्रत-संजम गयो चहै भवपारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि-बासर हरि-पद-कमल बिसारहि॥ ३॥

श्रीहरिः

'कल्याण'

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र-)

के ५८ वें वर्ष-

वि० सं० २०४०-४१ (सन् १९८४ई०)-के तीसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों तथा कविताओंकी विषय-सूची

(विशेषाङ्क एवं दूसरे अङ्ककी विषय-सूची विशेषाङ्कके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है ।)

निबन्ध-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–अगर मौत न होती ? (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ५९१

२–अपने अनुभवका आदर (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन) ··· ७४१

३–अभय-वाणी (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ६१५, ६६६, ७१९, ··· ··· ७६१

४–अमृत-बिन्दु–तीसरे अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ, चौथे अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ, ६१०, ६५३, ७०३, ७५१, ७९९, ८४७, ··· ८९७,९३७

५–अर्धनारीश्वर (श्री 'चक्र') ··· ८८४

६–अल्पमें सुख नहीं है (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ··· ४८४

७–अहंकार कैसे मिटे ? (श्रद्धेय स्वामी श्रीराम-सुखदासजी महाराजका एक प्रवचन) ४८९

८–आगम, निगम एवं पुराणोंमें सत्यकी महिमा (डॉ० श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ५८१

९–आचरणीय बातें (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पुराना प्रवचन) ६६७

१०–आड़े-तिरछे ये भगवान् (श्रीब्रजगोपालदासजी अग्रवाल) ··· ··· ७३८

११–आत्मचिन्तनकी आवश्यकता (राधेश्याम खेमका) ··· ··· ६११

१२–आत्मतत्त्व-विमर्श (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० काम्०) ··· ··· ८१८

१३–आत्म-निवेदन (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ४७६, ५२८

१४–आत्माकी अमरता ··· ··· ६७९

१५–आनन्दकी अनुभूति ··· ··· ८०३

१६–आर्थिक समताका शास्त्रीय उपाय––दान (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती) ५८६

१७–आशीर्वाद ··· ··· ६६०

१८–ईमानदार मजदूर लड़का ··· ··· ७९४

१९–'ईश्वर सब ठीक कर देंगे' (ईश्वर-विश्वासपर एक अमेरिकन महिलाका अनुभव) ··· ९३८

२०–उद्धव-संदेश (डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० (अनुवादक––श्रीचतुर्भुजजी तोष्नीवाल) ४८७, ५५६, ५८९, ६८८, ७३२, ··· ··· ७७०

२१–एक अलौकिक महापुरुष मधुराद्वैताचार्य श्रीगुलाब महाराज (प्राचार्य डॉ० श्रीअरविन्द स० जोशी मेहेकर) ··· ··· ८९०

२२–एक संतका उपदेशामृत ६६९, ··· ७१७

२३–कण्टकेनैव कण्टकम् ··· ··· ६९६

२४–कल्याण ४७०, ५१८, ५६६, ६१४, ६६२, ७१०, ७५८, ८०६, ८५४, ··· ९०२

२५–कामके पत्र (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ··· ६८०, ८१५

२६–कुण्डलिनी शक्तिका रहस्य (स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी) ··· ··· ६२०

विषय	पृष्ठ-संख्या
२७–कुन्तीका धर्म-प्रेम और त्याग ...	८८३
२८–केशावतार (श्रीचैतन्यचरितामृतकी डॉ० राधागोविन्दनाथकी टीकाके आधारपर)	४९९
२९–क्या मत करो और क्या करो ...	६४२
३०–क्रोधनाशका उपाय	५२३
३१–गीताका कर्मयोग-६०–६९ [श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या] (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ५०३, ५५२, ५९८, ६४५, ६९९, ७४७, ७९६, ८३४, ८९४, ...	९३०
३२–घर प्रभुका मंदिर	७६६
३३–चक्रपुष्करिणी तीर्थ––श्रीमणिकर्णिका (पं० श्रीअंजनीनन्दनजी मिश्र) ...	८८७
३४–चतुर्विधा भजन्ते (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	७५९
३५–चेतन समाधि	७६३
३६–चैतन्य महाप्रभुका प्रादुर्भाव और उत्कर्ष (श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल) ...	५३१
३७–जीवन और विवेक	७१४
३८–'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी' (समाधान) (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ...	५९६
३९–तपोव्रत एवं हरिनामकी पापनाशकता (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती) ...	९२१
४०–दहेजके लिये नव-वधुओंका उत्पीड़न एक महान् पाप (राधेश्याम खेमका) ...	५६३
४१–दास्ययोग (पूज्य अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	५६९
४२–दिव्य दाम्पत्य	८१४
४३–दुःख क्यों हो ?	८३८
४४–देवालय-संरक्षण (श्रीजयगोपालजी सिंहल)	५५६
४५–धर्म (अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ४७२, ...	५२१
४६–धर्मको जीवनमें उतारिये (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	४९३
४७–नमामि गङ्गे तव पादपङ्कजम् ...	८५५
४८–नाम और नामीका अभेद (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ...	९०६
४९–नाम-जपकी आवश्यकता (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन) ...	८२४
५०–नामनिन्दासे नाक कट गयी ...	८४४
५१–नाम-संकीर्तनका महत्त्व (पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके रामकोटिमहोत्सवपर लिखे हुए भाषणसे) ६८४, ...	७२८
५२–पछतावा (श्रीकेशवदेवजी मिश्र 'कमल') ...	५५४
५३–पढ़ो, समझो और करो ५१०, ५५९, ६०६, ६५४, ७०४, ७५२, ८००, ८४८, ८९८, ...	९४०
५४–परमात्मा तत्काल कैसे मिलें (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक प्रवचन) ५८३, ...	६४१
५५–परमोपयोगी साधन (एक संतका प्रसाद) ४७८,	५२२
५६–पाँच दिशाएँ	६५१
५७–पारिवारिक जीवनका रहस्य (ब्रह्मलीन श्रीमगन-लाल हरिभाई व्यास) (अनुवादक–प्रा० भूदेवप्रसाद हरिभाई पंड्या) ...	६७७
५८–पुराणोंकी मौलिक प्रामाणिकता (डॉ० श्रीमहा-प्रभुलालजी गोस्वामी)	५४९
५९–प्रभो ! आप मुझे सद्बुद्धि दें (डॉ० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	५४८
६०–प्रसादे सर्वदुःखानाम्––(डॉ० श्रीभगवती-शरणजी मिश्र) ...	९१८
६१–बच्चोंकी सरल दयालुता ...	९२८
६२–बाबा नहीं, बड़े बाबाजी (श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)	८३९
६३–बाह्य एवं आन्तरिक त्यागका तात्पर्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन) ७११, ७६२, ...	८०७
६४–ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मकी उपलब्धि (डॉ० श्रीसर्वा-नन्दजी पाठक, डी० लिट्०) ...	६३९
६५–ब्रह्मा-विष्णु, शिव भिन्न या अभिन्न (स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)	७८४
६६–भक्त दुर्गादास	९३४
६७–भक्तके लक्षण (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	५४२
६८–भक्तिका प्रतीक–अभिवादन (श्रीहरिहरनाथजी चतुर्वेदी)	६३६

विषय पृष्ठ-संख्या

६९–भक्ति-संजीवनी भागवती कथा (संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजके प्रवचनका सारांश) ७३४, ७८१, ८२६, ८८०, ··· ९०७
७०–भगवत्कृपाके दर्शन (राधेश्याम खेमका) ··· ५१४
७१–भगवत्प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन) ··· ७८७
७२–भगवदर्थ कर्म और भगवान्की दयाका रहस्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ९०३
७३–भगवान् कहाँ रहते हैं ? (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ५७९, ६६२
७४–भगवान्से नित्ययोग (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीराम-सुखदासजी महाराजका प्रवचन) ··· ६९३
७५–भागवत-धर्म (अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डा-नन्दजी सरस्वती) ६७०, ७१५, ··· ७६४
७६–भारतका पुराण-साहित्य (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ८६५, ९११
७७–भारतीय संस्कृति और सभ्यताकी मूल गौ (पं० श्रीमधुसूदनजी शास्त्री) ··· ६०१
७८–मनका विष और उसका उपचार ९४३
७९–मनन करने योग्य ५१३, ५६२, ६०९, ६५७, ७०६, ७५४, ८०२, ८५०, ९००, ··· ९४२
८०–महर्षि अष्टावक्र ··· ··· ६०४
८१–महाभागवत श्रीज्योतिपन्त ··· ··· ५०५
८२–माननेमात्रसे भगवत्प्राप्ति (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने प्रवचनसे) ६१६
८३–मानस-शङ्का-समाधान (श्रीगिरिधरजी मिश्र 'प्रज्ञाचक्षु') ६९१ ··· ७४५
८४–मानसका एक दुर्लभ प्रसङ्ग (डॉ० श्रीगोपाल-प्रसादजी 'वंशी') ७३९, ··· ··· ७९१
८५–यौवन और संयम ··· ··· ७९५
८६–'राम-नाम' कहनेसे तनाव-मुक्ति (डॉ० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ८४३
८७–लोकमें श्रीरामनवमीका महत्त्व (डॉ० जी० आर० साक्षी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एड्०, योगविद्, साहित्यालंकार, आयुर्वेदरत्न) ··· ५०१
८८–वासना-क्षय [ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास] (अनुवादक-प्रा० भूदेवप्रसाद ह० पंड्या) ··· ··· ८७७
८९–विजयका त्याग ··· ··· ७०८
९०–विश्वास और अनुभव (श्रद्धेय स्वामी श्रीराम-सुखदासजी महाराजका एक प्रवचन) ··· ९२३

विषय पृष्ठ-संख्या

९१–वेदमें नवधा भक्ति (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य,) ··· ८६८
९२–वेदान्त-नीति और अध्यात्मका माध्यम (डॉ० श्रीनारायणप्रसादजी वाजपेयी 'करुणेश') ··· ५९३
९३–व्यवहारमें परमार्थकी कला (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक प्रवचन) ··· ५३४
९४–व्रजसुन्दरियोंके भगवान् (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ··· ७६७
९५–शरणागति-रहस्य (स्वामी श्रीजगन्नाथानन्दजी सरस्वती) ·· ··· ६३१
९६–शाप और वरदान (श्रीरामआसरेजी शर्मा समाधिया, एम्० ए०, एल्० टी०) ··· ८२१
९७–शिखा-(चोटी-) धारणकी महत्ता (ज्योतिर्विद् पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी ठाकुर, एम्० ए०) ··· ६४३
९८–शिवसे शिक्षा (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· ··· ४८०
९९–शुकदेव मुनि कैसे हुए ? ··· ··· ६७५
१००–शुभचिन्तनकी महिमा (स्वामी श्रीजगन्नाथा-नन्दजी सरस्वती) ··· ··· ४८१
१०१–श्रद्धाका महत्त्व (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजय-दयालजी गोयन्दकाके अप्रकाशित प्रवचनसे) ८५८
१०२–श्रीमद्भागवतके उद्देश्य और उसकी महिमा (पूज्य श्रीरामचन्द्रडोंगरेजी महाराजके काशी-ज्ञानवापी-प्राङ्गणमें हुए प्रवचनका सारांश) ४९४, ५३८, ५७७, ··· ··· ६३४
१०३–श्रीमाँ शारदा देवी-नारियोंका पवित्र आदर्श (श्रीओम्प्रकाशजी शर्मा) ६४७, ६९७, ··· ७५०
१०४–श्रीराधा-माधव-स्वरूपकी महिमा (नित्यलीला-लीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ७२०
१०५–श्रीशिवतत्त्व (ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· ··· ६६३
१०६–श्रीहनुमत्-कृपा (भक्त जयसियारामजी) ··· ७५६
१०७–संगीत और साहित्यका सदुपयोग ··· ८५१
१०८–सन्त-महिमा (एक महात्माका प्रसाद) ८४५, ८६२
१०९–सन्त-वचनावली (साकेतवासी सन्त स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज) ६८२, ··· ९२६
११०–सच्चासुख [ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास] (अनुवादक–प्रा० भूदेवप्रसाद हरिभाई पंड्या) ··· ··· ८११
१११–सत्सङ्गकी आवश्यकता (एक सन्तका प्रसाद) ५७२, ··· ··· ··· ६२७

विषय — पृष्ठ-संख्या

११२—सत्सङ्गकी महिमा ५७३

११३—सत्यकी साधना (स्वामी श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वती 'जजस्वामी') ५२७

११४—साधकोंके प्रति-(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ४१७, ५१९, ५६७, ६२९, ६७३, ७२४, ७७४, ८४१, ८७२ ... ९१५

११५—साधनामें तत्परता (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५७४

११६—सिक्खधर्म भारतीय दर्शन एवं हिन्दू-संस्कृतिका अभिन्न अङ्ग (राधेश्याम खेमका) ... ६५८

११७—सुखका स्रोत (राधेश्याम खेमका) ... ७०७

११८—सौन्दर्य-माधुरी ७५५

११९—स्वामी विवेकानन्दजीकी दृष्टिमें भागवतीकृपाका स्वरूप (श्रीतेजबहादुरसिंहजी, एम्० ए०) ७७८, ... ८३२

पद्य-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—करुणानिधान प्रभुका स्वभाव (रचयिता—डॉ० श्रीनारायणदत्तजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ५४७

२—दो प्रभु ! भक्ति, शान्ति-सुख आवे (रचयिता—श्रीकेशवदेवजी शास्त्री 'केशव') ... ४८६

३—नश्वर प्राणी (रचयिता—श्रीशिवदत्तजी झा) ९१४

४—मुझमें तेरी ही परिभाषा (रचयिता—श्रीश्यामजी 'निगम') ६२६

५—मेरे प्रभुकी सुभाउ ! (रचयिता—श्रीनारायणदत्तजी शर्मा, एम्० ए०) ... ७९८

६—सर्वत्र तुम्हीं हो (रचयिता—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित) ७९०

ग्राहक महानुभावोंसे आवश्यक निवेदन

'कल्याण'के सभी ग्राहक महानुभावोंसे सानुरोध नम्र निवेदन है कि वे कल्याणका निर्धारित
वार्षिक शुल्क मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा ही भेजें। चेकद्वारा भेजी हुई कोई राशि स्वीकार
न की जा सकेगी; क्योंकि इसमें मुख्यतः दो कठिनाइयाँ हैं—(१) बैंकसे चेकका भुगतान प्राप्त करनेमें
अत्यधिक समय लगता है तथा (२) बैंक-कमीशनके रूपमें पर्याप्त राशि कट जानेसे 'कल्याण'को निश्चित
राशि प्राप्त नहीं होती। यह असुविधा बैंक-ड्राफ्टमें नहीं है। राजकीय नियमोंके अन्तर्गत विशेषतः विदेश-
स्थित सभी ग्राहकोंको ड्राफ्ट भेजते समय PAY TO..................के आगे यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया
गोरखपुर A/C 'KALYAN HINDI' अनिवार्यरूपसे अंकित करके भेजना चाहिये। विदेशके लिये
कल्याणका वार्षिक शुल्क-(भारतीय मुद्रामें) ६०.०० (साठ रुपये) अर्थात् ४ पौण्ड या ८ डालर नियत है।

'कल्याण'के उद्देश्यसे भेजे जानेवाले मनीआर्डर—व्यवस्थापक 'कल्याण'के नामसे ही भेजने चाहिये;
उसके साथ पुस्तकोंके लिये कोई राशि सम्मिलित करके कृपया न भेजें। पुस्तकोंके लिये भेजी जानेवाली
राशि सीधे व्यवस्थापक-गीताप्रेस पुस्तक-विभाग, पो० गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेपर प्रेषित की जानी
चाहिये। हमारे यहाँ इस प्रकारके अनेक मनीआर्डर प्राप्त हो रहे हैं, जिनपर पता 'कल्याण'-कार्यालय'का
दिया हुआ है, पर राशि पुस्तकें मँगानेके उद्देश्यसे एवं वैसे उल्लेखके साथ भेजी गयी है। ऐसा होनेसे राशि-
प्रेषकके उद्देश्यके अनुरूप कार्यवाही होनेमें अनावश्यक विलम्ब और असुविधा हो सकती है। अतएव सभी
सज्जनोंको पुस्तकोंके लिये राशि भेजते समय 'कल्याण'के निमित्त और 'कल्याण'के उद्देश्यसे भेजे गये
मनीआर्डरके साथ पुस्तकें मँगानेके हेतु न तो कोई राशि भेजनी चाहिये और न उद्देश्यके प्रतिकूल मनीआर्डर-
फार्मपर पता ही लिखना चाहिये। दोनों विभाग और दोनोंकी व्यवस्थाएँ अलग-अलग हैं; अतः अभीष्ट-पूर्ति एवं
तदनुसार कार्यकी यथाशीघ्र सम्पन्नताके लिये आवश्यक धन-राशि सम्बन्धित विभागके पतेपर ही भेजनी चाहिये।

व्यवस्थापक—"कल्याण" पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

आगामी विशेषाङ्क—'मत्स्यपुराणाङ्क'—(उत्तरार्द्ध) विषयक शुभ-सूचना

इस (दिसम्बर, ८४के) अङ्कके साथ 'कल्याण' अपना ५८वाँ वर्ष पूरा करके ५९वें वर्षमें प्रवेश कर रहा है। इस अन्तिम (बारहवें) अङ्कके साथ चालू वर्षका मूल्य समाप्त हो जाता है। आगामी—५९वें वर्षमें 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्द्ध) जनवरी १९८५के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित होगा। 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंकी गौरवशाली परम्परामें यह विशेषाङ्क भी, जो गतवर्ष प्रकाशित 'मत्स्य-पुराणाङ्क' पूर्वार्द्धका उत्तर-भाग है, गीताप्रेससे प्रकाशित पुराण-मणिमालाका एक अन्यतम मणिका होगा। इसमें भगवान् शिवद्वारा त्रिपुर-दाह, कार्तिकेय-जन्म, तारक-वध, नृसिंहावतार, वराहावतार, वामनावतार, हयग्रीवावतार, समुद्रमन्थन, वृत्रवध, भगवान् विष्णुद्वारा कालनेमि-वध आदिकी रोचक और ज्ञानप्रद विविध कथाएँ, 'सत्ययुग आदिमें यज्ञादि धर्म-प्रवर्तन', काशी-माहात्म्य, नर्मदामाहात्म्य, षोडश महादान इत्यादि पुण्यप्रद अनेक विषयोंका विवेचन तथा 'सर्वजनगोत्र-प्रवर-निर्णय', सम्पूर्ण राजनीति, धर्मनीति, सामान्यनीति, ज्योतिष-शास्त्रके अद्भुत तत्त्व और उनकी शान्ति, ग्रहयज्ञ, यात्राविचार, स्वप्नविचार, वास्तुशास्त्र, गृहनिर्माण, मन्दिर-निर्माण, सर्वप्रतिमा-निर्माण-प्रतिष्ठा-पूजाविधान, कलियुगी राजाओंकी वंशावली एवं प्राचीन इतिहासादिका सुन्दर, सुरुचिपूर्ण वर्णन है; जो अन्यत्र किसी एक ग्रन्थमें प्राप्य नहीं है। इस प्रकार अपने विवेच्य विषयकी महत्त्व-पूर्ण ज्ञानवर्धक और सर्वजनोपयोगी सामग्रीसे युक्त यह विशेषाङ्क भी एक दुर्लभ संग्रह होगा।

भगवत्कृपासे विशेषाङ्कका मुद्रण-कार्य द्रुतगतिसे चलते हुए समापनकी ओर अग्रसरित है। आशा है कि इस बार विशेषाङ्क अनुमानतः समयसे ही प्रकाशित होकर उसका प्रेषण भी यथाशीघ्र सम्भव हो सकेगा। जिन महानुभावोंसे वार्षिक-मूल्य-राशि मनीआर्डरसे प्राप्त हो गयी रहेगी, उन्हें विशेषाङ्क रजिस्ट्रीद्वारा एवं जिनका वार्षिक शुल्क विशेषाङ्क प्रकाशित होनेतक भी, यदि प्राप्त न हो सकेगा तो विवशतया गतवर्षकी भाँति उन्हें वार्षिक मूल्य २४.००(चौबीस) रुपयेके स्थानपर २७.००(सत्ताईस) रुपयेकी वी०पी०पी० भेजनेकी स्थितिमें ३.००(तीन) रुपये (वी०पी०पी० शुल्कके रूपमें) अतिरिक्त देने होंगे। इस प्रकार रजिस्ट्रीसे मँगानेवाले सज्जनोंको प्रत्यक्षतः तीन रुपयेकी बचत तथा विशेषाङ्क पहले प्राप्त होनेका लाभ मिलेगा। अतः सभी ग्राहक महानुभावोंको वी०पी०पी०की प्रतीक्षामें न रहकर वार्षिक शुल्क अग्रिम मनीआर्डरद्वारा ही शीघ्रातिशीघ्र भेज देना चाहिये। तदर्थ मनीआर्डर-फार्म गत सितम्बर, १९८४के (संख्या—९वें) अङ्कमें संलग्न कर ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें भेजे जा चुके हैं।